अध्यात्म रश्मि

(भाग-१)

-लेखक-
पीठाधीश स्वस्तिश्री रवीन्द्रकीर्ति स्वामीजी

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला का पुष्प नं. 507
ISBN-978-93-87891-17-3

अध्यात्म रश्मि

(भाग-1)

–लेखक –

कर्मयोगी पीठाधीश
स्वस्तिश्री रवीन्द्रकीर्ति स्वामीजी

चैत्र कृ. नवमी, भगवान ऋषभदेव जन्मजयंती के अवसर पर
ऋषभदेवपुरम्-मांगीतुंगी सिद्धक्षेत्र पर विराजमान शारदे माँ गणिनीप्रमुख
श्री ज्ञानमती माताजी द्वारा घोषित ''भगवान ऋषभदेव विश्वशांति वर्ष (मार्च 2018-2019)''
के अन्तर्गत कर्मयोगी पीठाधीश स्वस्तिश्री रवीन्द्रकीर्ति स्वामीजी के पीठाधीश
पदारोहण दिवस-मगसिर कृ. दशमी, 2 दिसम्बर 2018 के शुभ अवसर पर प्रकाशित

-प्रकाशक-

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान
जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र., फोन नं.- (01233) 280184, 280994
Website : www.jambudweep.org, www.encyclopediaofjainism.com
E-mail : jambudweeptirth@gmail.com, rk195057@yahoo.com

प्रथम संस्करण	वीर नि. सं. 2545	मूल्य
1100 प्रतियाँ	मगसिर कृ. दशमी, 2 दिसम्बर 2018	24/-रु.

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान द्वारा संचालित

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमाला में दिगम्बर जैन आर्षमार्ग का पोषण करने वाले हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, कन्नड़, अंग्रेजी, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं के न्याय, सिद्धान्त, अध्यात्म, भूगोल-खगोल, व्याकरण आदि विषयों पर लघु एवं वृहद् ग्रंथों का मूल एवं अनुवाद सहित प्रकाशन होता है। समय-समय पर धार्मिक लोकोपयोगी लघु पुस्तिकाएँ भी प्रकाशित होती रहती हैं।

-: संस्थापिका एवं प्रेरणास्रोत :-

परमपूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी

-: मार्गदर्शन :-

प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चन्दनामती माताजी

(पीएच.डी. की मानद उपाधि से अलंकृत)

-: निर्देशक एवं सम्पादकः-

कर्मयोगी पीठाधीश स्वस्तिश्री रवीन्द्रकीर्ति स्वामीजी

-: प्रबंध सम्पादक :-

डॉ. जीवन प्रकाश जैन

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

कम्पोजिंग - ज्ञानमती नेटवर्क

जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र.

प्रबंध सम्पादकीय

–डॉ. जीवन प्रकाश जैन

मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो, जैन धर्मोऽस्तु मंगलं।।

प्रस्तुत मंगलाचरण में भगवान महावीर के पश्चात् श्री गौतम गणधर स्वामी को नमन करते हुए पूर्वाचार्यों में आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव को अत्यन्त श्रद्धा-भक्ति के साथ नमन किया गया है।

ये वही आचार्य कुन्दकुन्ददेव हैं, जो विदेहक्षेत्र में जाकर साक्षात् सीमंधर स्वामी के समवसरण में उनकी दिव्यध्वनि सुनकर आए थे और भरतक्षेत्र में आकर भव्यात्मा जीवों के लिए अनेक उच्च कोटि के ग्रंथों की रचना की। पद्मनंदि, गृद्धपिच्छाचार्य आदि पाँच नामों से समन्वित उन महान आचार्यवर्य ने अध्यात्मपरक ग्रन्थ समयसार की रचना की, जिसमें निश्चय-व्यवहार के कथन द्वारा आत्मा का सार बताया गया है, उस ग्रंथराज पर पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने ज्ञानज्योति टीका की रचना की और उनकी कुछ विशेष गाथाओं को लेकर स्वस्तिश्री रवीन्द्रकीर्ति स्वामीजी द्वारा यह पुस्तक लिखी गयी है।

आप सब जानते हैं कि परमपूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी द्वारा आज तक जितने भी कार्य हुए, चाहे वह शिक्षात्मक हों, सृजनात्मक-निर्माणात्मक हों या धर्मप्रभावना के हों अभूतपूर्व और स्वयं में बेमिशाल रहे हैं, मात्र इतना ही नहीं उनकी प्रेरणा प्राप्तकर मोक्षमार्ग पर निकले उनके शिष्य और उन शिष्यों की कार्यप्रणाली भी अद्भुत रही है, जिसके जीवन्त उदाहरण हम युवाओं के आदर्श, अनेक संस्थाओं, गुरुओं और जैन समाज द्वारा नाना उपाधियों को प्राप्त स्वस्तिश्री रवीन्द्रकीर्ति स्वामीजी हैं, जिनके कार्यकलापों से आज सारा देश परिचित है। स्वयं में सर्वांगीण योग्यता के होते हुए भी सदैव परमपूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी के अनन्य शिष्य के रूप में उनकी प्रत्येक आज्ञा को शिरोधार्य कर उसे मूर्त रूप देते हुए उनका हंसता-मुस्कुराता आइने सा स्वच्छ व्यक्तित्व आज जैन समाज के लिए वंदनीय, पूज्यनीय और अनुकरणीय है। प्रत्येक कार्यों को सुव्यवस्थित ढंग से करके "मैनेजमेंट गुरू" कहलाने वाले स्वामीजी उच्चकोटि के लेखक भी हैं यह बात शायद ही कुछ लोग जानते हों, लेकिन अब आज से पच्चीसों वर्ष पूर्व लिखी गई उनकी इस उच्च कोटि की कृति के माध्यम से आप सभी विज्ञजन अपने आत्मस्वरूप को पहचानें और देदीप्यमान नक्षत्र की भांति जैन जगत के इस चमकते सितारे से यह जिनशासन सदा-सदा वृद्धि को प्राप्त होता रहे, यही जिनेन्द्रदेव से मंगल प्रार्थना है।

प्रस्तावना

–ब्र. कु. इन्दु जैन (संघस्थ)

वंदित्तु सव्वसिद्धे, धुवमचलमणोवमं गइं पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवलीभणियं।।

जैनधर्म के चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर के निर्वाण के लगभग 500 वर्ष पश्चात् आचार्यश्री कुन्दकुन्ददेव का समय माना जाता है। वर्तमान में आचार्यश्री कुन्दकुन्ददेवकृत जितने भी ग्रंथ हैं, उनमें समयसार ग्रंथ सर्वोपरि और प्रसिद्ध है, अगर यह कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि आचार्यश्री कुन्दकुन्ददेव एवं समयसार ग्रंथ एक-दूसरे के पर्यायवाची हो चुके हैं। वर्तमान में समयसार ग्रंथ के बहुलता से होते प्रकाशन से यह स्पष्ट होता है कि लोगों का झुकाव अध्यात्म की ओर बढ़ा है।

तीर्थंकर भगवान महावीर की दिव्यध्वनि को सुनकर श्री गौतम गणधर स्वामी ने उसे 11 अंग और 14 पूर्वरूप में गूंथा और उस अंगपूर्व के ज्ञान को क्षीण होते हुए देख अनेकों महान पूर्वाचार्यों ने उसे शास्त्र रूप में लिपिबद्ध किया। कालदोषवश उनमें से अनेकों हस्तलिखित महान ग्रंथ कीटकों की भेंट चढ़ गए, धर्मविद्वेषियों द्वारा नष्ट-भ्रष्ट कर दिए गए अथवा ले जाए गए और जो भी शेष बचे उनमें से भी आज जिनागम महासमुद्र रूप में है जिसमें अवगाहन करने वाला ज्ञानरूपी नौका से संसार जलधि से पार हो सकता है। महान ग्रंथों की उसी शृँखला में जिस समयसार ग्रंथ को आचार्यश्री कुन्दकुन्ददेव ने गाथाओं में निबद्ध किया उस पर आचार्यश्री अमृतचन्द्र सूरि ने आत्मख्याति टीका एवं आचार्यश्री जयसेन स्वामी ने तात्पर्यवृत्ति नामक संस्कृत टीका लिखी। कुछ शताब्दियों से प्राकृत और संस्कृत भाषा जनसामान्य की भाषा न होकर विद्वत् समाज की भाषा बनकर रह गई अतः सामान्यजनों के हितार्थ अनेक हिन्दी टीकाएं इस ग्रंथ पर लिखी गईं परन्तु वह एक ही आचार्य की टीका के साथ प्रकाशित थी। उन दोनों ही आचार्यों की टीका को एक साथ लेकर उसकी हिन्दी टीका की विशेष आवश्यकता को देखते हुए परमपूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने ज्ञानज्योति नामक हिन्दी टीका को विशेषार्थ, भावार्थ एवं गुणस्थानों सहित लिखकर आचार्यश्री कुन्दकुन्द के मनोभावों को पूर्णतः स्पष्ट कर जैन समाज पर महान उपकार किया है।

भगवान महावीर के शासनकाल में किसी नारी द्वारा रचित कोई ग्रंथ वर्तमान में उपलब्ध नहीं है, बीसवीं-इक्कीसवीं शताब्दी गौरवशाली है, जिसे ऐसी सरस्वती स्वरूपा पूज्यनीया माताजी प्राप्त हुईं, जो जैन समाज की अमूल्य धरोहर हैं, जिन्होंने स्वयं पढ़कर और शिष्यों को पढ़ाकर जिनागम को अपनी अमूल्य 400 उच्च कोटि की कृतियाँ प्रदान की हैं। इस समयसार ग्रंथ की हिन्दी टीका करने के साथ ही उन्होंने अपने शिष्य-शिष्याओं को इसका अध्ययन करवाकर व्यवहार और निश्चय की उपादेयता पर विशेष प्रकाश डाला है जिसका प्रतिफल उनके अनन्य शिष्य स्वस्तिश्री रवीन्द्रकीर्ति स्वामीजी द्वारा रचित यह ''अध्यात्म रश्मि'' नामक पुस्तक है, जिसमें समयसार की कतिपय गाथाओं को लेकर यह बताया गया है कि व्यवहार और निश्चय का अवलम्बन किसे किस प्रकार ग्रहण करना चाहिए, निश्चयनय किसमें पूर्णरूपेण घटित होता है और गृहस्थ श्रावक के लिए इसमें से क्या ग्रहण करने योग्य है। आध्यात्मिक भाषा में आत्मा के स्वरूप को बताने वाली इस पुस्तक के द्वारा आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानकर आप सभी अपनी आत्मा को समुन्नत बनाने के पुरुषार्थ में सफल होवें और अपनी मानव पर्याय को सार्थक करें, यही मंगल कामना है।

परमपूज्य भारतगौरव, दिव्यशक्ति, गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि
श्री ज्ञानमती माताजी का
मंगल आशीर्वाद

परमवंदनीय आचार्यश्री कुन्दकुन्द स्वामी को गुर्वावली में श्री गुप्तिगुप्त भद्रबाहु आदि से लेकर 108 आचार्यों की पट्टावली में पाँचवें पट्ट पर लिया गया है। ये महान संघ के आचार्य थे, जिन्होंने 84 पाहुड़ ग्रंथ, षट्खण्डागम टीका, दशभक्ति, अष्टपाहुड़, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, नियमसार, रयणसार, बारसअणुपेक्खा, समयसार, मूलाचार और कुरलकाव्य ग्रंथों की रचना की।

आज वर्तमान युग में न तो तीर्थंकर भगवान हैं और न ही वे महान आचार्य किन्तु उन आचार्यों के ग्रंथ ही हमारे लिए मोक्षमार्गप्रदर्शक हैं जिनका स्वाध्याय कर हम अपनी आत्मा के यथार्थ स्वरूप को पहचान सकते हैं। आचार्यश्री कुंदकुंदकृत समयसार ग्रंथ आध्यात्मिक ग्रंथ है, जिसमें आत्मा के सहज स्वरूप को दर्शाया गया है। यह ग्रंथ विशेष रूप से मुनियों के लिए है क्योंकि श्रावकजन गृहस्थ में रहकर वैराग्य भावना को भाकर भी शुद्धात्म अवस्था नहीं प्राप्त कर सकते हैं। इस ग्रंथराज की ज्ञानज्योति टीका करते हुए मुझे विशेष आल्हाद हुआ और मैंने अपने शिष्य-शिष्याओं के मध्य इसका अध्ययन भी कराया, उस अध्ययन के मध्य मेरे सुयोग्य शिष्य ब्र. रवीन्द्र जी इस ग्रंथ को जब पढ़ते थे, तो उन्हें निश्चय-व्यवहार की चर्चा में विशेष आनन्द आता था, पुनः मैंने इन्हें इसकी कुछ गाथाओं पर लिखने के लिए प्रेरित किया, जिसे समय-समय पर सम्यग्ज्ञान मासिक पत्रिका में प्रकाशित किया गया। ब्र. रवीन्द्र जी तीक्ष्ण बुद्धि के धनी, सर्वांगीण योग्यतासम्पन्न, अत्यन्त कार्यकुशल व्यक्तित्व और गुरू आज्ञा में सदैव तत्पर हैं, आज पीठाधीश पद पर रवीन्द्रकीर्ति स्वामीजी के रूप में रहकर भी वे मेरी प्रत्येक आज्ञा का अक्षरशः पालन करते हैं परन्तु अनेक जिम्मेदारी और व्यस्तता के कारण लेखनकला में दक्ष होते हुए भी वे लेखन नहीं कर पाते हैं। मुझे अत्यन्त प्रसन्नता है कि 28-29 वर्ष पूर्व उनके द्वारा समयसार पर लिखित विषय आज पुस्तक रूप में निबद्ध होकर आप सभी के सम्मुख आ रहा है। पीठाधीश रवीन्द्रकीर्ति जी के लिए मेरा बहुत-बहुत आशीर्वाद है कि वे अपने कार्यकलापों से जिनधर्म की इसी प्रकार महान प्रभावना करते हुए स्वस्थ एवं चिरायु रहें और उनकी यह कृति विज्ञजनों के आत्मस्वरूप को प्रगटाने में निमित्त बने, पुनः-पुनः मंगल आशीर्वाद।

लेखक के संदर्भ में

-प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका चन्दनामती

त एव कीर्तिताः शिष्या, ये गुर्वाज्ञानुवर्तिनः।

वास्तव में वही सुयोग्य शिष्य कहलाते हैं, जो गुरु आज्ञानुवर्ती होते हैं। परमपूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी जैसी महान साध्वी के चरण सान्निध्य में रहकर चारित्रचक्रवर्ती आचार्यश्री शांतिसागर महाराज एवं पूज्य आचार्य श्री वीरसागर महाराज, आचार्य श्री देशभूषण महाराज के प्रति पूज्य माताजी की अनन्य गुरुभक्ति देखकर हम शिष्यों ने (चाहे वे क्षुल्लक मोतीसागर जी महाराज रहे हों, स्वामी रवीन्द्रकीर्ति जी हों अथवा मैं स्वयं होऊं) यही सीखा कि गुरुआज्ञा सर्वोपरि है और गुरु दिन को रात कहें तो रात और रात को दिन कहे तो दिन अर्थात् हम सबको किसी ख्याति, लाभ, पूजा में न पड़कर मात्र गुरुभक्ति को अपना लक्ष्य बनाना है क्योंकि–

गुरुभक्ति संजमेण य तरंति संसार सायरं घोरं।
छिण्णंति अट्ठकम्मं जम्मं मरणं ण पावेंति।।

जब बात स्वस्तिश्री रवीन्द्रकीर्ति स्वामीजी के बारे में लिखने में आती है तो यह नहीं समझ में आता है कि इनकी किस योग्यता का पहले वर्णन करूँ, क्योंकि इतने वर्षों तक गुरु की छत्रछाया में रहकर भी निरभिमानता, निष्छलता और कर्मठता का जीवन्त स्वरूप हैं स्वामी जी, मुझे तो ज्येष्ठ भ्राता के रूप में इन्होंने गोद में भी खिलाया है, गुरुसंघ में साथ-साथ रहकर सदैव इनके साथ ही धर्म अध्ययन का, पूज्य माताजी की प्रेरणा से होने वाले प्रत्येक लघु एवं वृहत् कार्यों के समायोजन में साथ रहकर मूर्तरूप प्रदान करने का अवसर प्राप्त हुआ है। पल-पल इनकी कार्यशैली, गुणग्राहकता, अनुशासनप्रियता, सहृदयता को मैंने महसूस किया है, ऐसी सर्वांगीण योग्यता की जीवन्त मिशाल हैं हमारे स्वामी रवीन्द्रकीर्ति जी, जो जहाँ जिस कार्य को हाथ में लेते हैं उस समय उनकी उसमें तन्मयता दर्शनीय होती है। कई बार माताजी के प्रातःकालीन स्वाध्याय में इनके ज्ञान के तीव्र क्षयोपशम को भी हम सबने देखा है जिसका मूर्तरूप यह ''अध्यात्म रश्मि'' पुस्तक है जो लघु होकर भी अध्यात्म जिज्ञासुओं के लिए गागर में सागर के समान कृति सिद्ध होगी, इस कृति के माध्यम से ज्ञानपिपासु अपनी आत्मा को ज्ञानामृत से अभिसिंचित करें और रवीन्द्रकीर्ति स्वामीजी सदैव इसी प्रकार धर्मप्रभावना के कार्यों को करते हुए जैनशासन को गौरवान्वित करते रहें, यही मंगल कामना है।

पीठाधीश स्वस्तिश्री रवीन्द्रकीर्ति स्वामीजी का जीवन परिचय

–ब्र. कु. इन्दु जैन (संघस्थ)

कहा जाता है रत्नों की खान से रत्न ही निकलते हैं तभी रानी मदालसा के समान अपनी संतानों को घूंटी में धर्मामृत के संस्कार देने वाली माता मोहिनी की पवित्र कुक्षि से गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी जैसे एक नहीं अनेकों रत्न उत्पन्न हुए, जिनमें से एक हैं नवयुवकों के आदर्श, संसार को अपनी दिव्य आभा से प्रकाशमान करने वाले स्वस्तिश्री पीठाधीश रवीन्द्रकीर्ति स्वामीजी, जिनका जीवन किसी परिचय का मोहताज नहीं है और प्रतिपल अपने कार्यकलापों से अपना परिचय प्रदान करता है।

अवध प्रान्त के टिकैतनगर ग्राम के धर्मपरायण, देव-शास्त्र-गुरु के प्रति अकाट्य श्रद्धा रखने वाले श्रेष्ठी श्री छोटेलाल जी एवं उनकी धर्मपरायण पत्नी श्रीमती मोहिनी देवी की पवित्र कुक्षि से ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी ''जो श्रुतपंचमी के नाम से विख्यात है'' की पवित्र तिथि में नवमी संतान के रूप में उनका जन्म हुआ। पिताजी ने अपने चार पुत्रों में से इसी पुत्र को लखनऊ यूनिवर्सिटी से बी.ए. तक अध्ययन करवाया था। यूनिवर्सिटी से स्नातक होने के पश्चात् भी मोहचक्र में फंसना इन्होंने स्वीकार नहीं किया। भोगों को भोगने के बाद विरक्ति तो देखने में आती है किन्तु पूर्ण यौवन और भोगोपभोग के समस्त साधन उपस्थित होने पर उनका त्याग विरले ही प्राणी कर पाते हैं। उसी शृँखला में एक कड़ी और जुड़ी जब सन् 1968 में गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने इनकी तीक्ष्ण मेधाशक्ति देखकर इन्हें धर्मग्रंथों के अध्ययन हेतु प्रेरित किया और संसार की असारता का बोध कराकर सन् 1972 में नागौर (राज.) भेजकर पूज्य आचार्यश्री धर्मसागर महाराज से आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत दिलवा दिया। उसके बाद से जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर के सर्वतोमुखी विकास हेतु ब्र. श्री मोतीचंद जी के साथ संस्थान का सम्पूर्ण दायित्व संभालते हुए सन् 1987 में यह पूज्य माताजी के पास सप्तम प्रतिमा के व्रत ग्रहण कर गृहविरत हो गये।

जम्बूद्वीप स्थल आपकी विशेष कर्मभूमि है, यहीं से अपनी धार्मिक क्रियाओं का निरतिचार पालन करते हुए आप सम्यग्ज्ञान मासिक पत्रिका का सम्पादन एवं पूज्य बड़ी माताजी एवं छोटी माताजी द्वारा लिखित सैकड़ों ग्रंथों का सम्पादन करते

रहे हैं। अपनी गुरुमाता पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी द्वारा निर्देशित प्रत्येक लघु एवं वृहत् कार्यों को विशेष प्रभावना के साथ मूर्त रूप प्रदान करते हुए आप जहाँ दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान (जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर), अयोध्या दि. जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी (अयोध्या-उ.प्र.), भगवान ऋषभदेव 108 फुट मूर्ति निर्माण कमेटी (मांगीतुंगी-महाराष्ट्र), तीर्थंकर ऋषभदेव तपस्थली प्रयाग तीर्थक्षेत्र कमेटी (इलाहाबाद-उ.प्र.), भगवान महावीर जन्मभूमि कुण्डलपुर दि. जैन समिति (कुण्डलपुर-नालंदा, बिहार), भगवान पुष्पदंतनाथ जन्मभूमि काकंदी दि. जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी (काकंदी-गोरखपुर, उ.प्र.), सम्मेदशिखर में निर्मित हो रहे ''आचार्य शांतिसागर धाम'' आदि के यशस्वी अध्यक्ष हैं, वहीं अ.भा. दि. जैन युवा परिषद तथा तीर्थंकर ऋषभदेव जैन विद्वत् महासंघ के अध्यक्ष पद का भार भी कई वर्षों तक आपने संभाला है। विशेषतः इन सबमें सर्वोपरि है– भगवान ऋषभदेव की अखण्ड पाषाण में निर्मित 108 फुट उत्तुंग प्रतिमा का असाधारण कार्य, 20 वर्षों तक की गई कठोर श्रमसाधना से प्रकट गिनीज बुक ऑफ वर्ल्ड रिकार्ड में दर्ज इस अद्वितीय प्रतिमा के अभिनव चामुण्डराय का गौरव प्राप्त करने वाले स्वामी रवीन्द्रकीर्ति जी में इन अनेकानेक कार्यों को करते हुए भी शिथिलता या क्रोध के भाव नहीं दिखते। आपकी सबसे बड़ी विशेषता आपकी कर्मठता, स्पष्टवादिता, सहजता, सरलता, ओजस्वी वाणी, अद्भुत कार्यशैली और हमेशा हंसता-मुस्कुराता, मधुरता बिखेरता, आइने की तरह स्वच्छ व्यक्तित्व है तभी तो आपके इन गुणों के कारण आज सारा देश स्वामीजी से परिचित हो चुका है। पूज्य माताजी से प्राप्त संस्कारों के अनुसार संघर्ष झेलकर भी सत्य को उजागर करना आपकी पहचान बन गई है।

जिनके जीवन का प्रत्येक क्षण धर्म, धर्मायतन, तीर्थ विकास, संरक्षण तथा गुरुओं की सेवा में व्यतीत हुआ है, ऐसे पूर्व में ''भाई जी'' और वर्तमान में पूज्य माताजी से मगशिर कृ. दशमी-20 नवम्बर 2011 में दशम प्रतिमा प्राप्त कर जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर के द्वितीय पीठाधीश बनकर ''स्वामीजी'' के नाम से जाना जाने वाला यह व्यक्तित्व अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन शास्त्री परिषद द्वारा सन् 1992 में 'कर्मयोगी' की उपाधि से विभूषित किया गया, जो कि युवाओं के आदर्श बन चुके हैं। इसके साथ ही इन्हें समय-समय पर अनेकों उपाधियों से अलंकृत किया गया, जिसमें 'धर्मसंरक्षणाचार्य (सन् 1996 मांगीतुंगी पंचकल्याणक), संस्कृति संरक्षक (जम्बूद्वीप में सन् 2016 गणिनी ज्ञानमती दीक्षा स्वर्ण जयंती पर), जैन कुल गौरव (भारतवर्षीय दि. जैन महासभा), अभिनव चन्द्रगुप्त (दक्षिण

भारत जैन सभा), मैनेजमेंट गुरु (तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय-मुरादाबाद), युगपुरुष (अ.भा. दि. जैन युवा परिषद), ज्ञानरथ सारथी (अ.भा. दि. जैन महिला संगठन), सर्वोत्तम व्यवस्थापन गुरु (दक्षिण भारत उपाध्याय समिति, इचलकरंजी), लौह पुरुष (सर्वोदय तीर्थ-धारूहेड़ा, हरियाणा), आर्यिका रत्नमती कुल गौरव (पूज्य स्वामीजी के गृहस्थ परिवारजन) (फरवरी सन् 2016 में भगवान ऋषभदेव 108 फुट मूर्ति पंचकल्याणक महामहोत्सव के विराट आयोजन अवसर पर प्रदत्त) प्रमुख हैं परन्तु इन सभी विशेषताओं के होते हुए भी निरभिमान, ख्याति, लाभ, पूजा की आकांक्षा से दूर पूज्यनीय स्वामी सदैव गुरु आज्ञा में रहकर स्वयं को उनकी पदरज ही मानते हैं।

पूज्य माताजी के द्वारा संकल्पित प्रत्येक क्षेत्र में साहित्यिक, निर्माणात्मक, सृजनात्मक कार्यों को मूर्तरूप प्रदान करने वाले, विद्वत्ता के धनी स्वामीजी ने भाई जी के रूप में सन् 2000 में पूज्य माताजी की प्रेरणा से आयोजित भगवान ऋषभदेव अंतर्राष्ट्रीय निर्वाण महामहोत्सव वर्ष के अन्तर्गत न्यूयार्क-अमेरिका (यू.एन.ओ.) में आयोजित ''विश्वशांति शिखर सम्मेलन'' में जैन धर्माचार्य के रूप में सम्मिलित होकर जैनधर्म का व्यापक प्रचार-प्रसार किया और आज भी जैनधर्म के प्रचार-प्रसार हेतु सतत संलग्न हैं। वस्तुतः योग्य व्यक्ति की पहचान उसके कर्मठ व्यक्तित्व से ही होती है। पूज्यनीय स्वामीजी जैन जगत के व्योम पर देदीप्यमान वह नक्षत्र हैं जिनका जीवन, जिनका प्रत्येक क्षण अनुकरणीय, वन्दनीय, अभिवंदनीय है, ऐसे स्वामीजी के दीर्घ एवं स्वस्थ जीवन की मंगल कामना के साथ कोटिशः नमन।

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान-संक्षिप्त परिचय

—जीवन प्रकाश जैन (प्रबंध सम्पादक)

ईसवी सन् 1972 में पूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी की प्रेरणा से स्थापित उक्त संस्था के द्वारा जम्बूद्वीप रचना के निर्माण हेतु मेरठ (उ.प्र.) के ऐतिहासिक तीर्थ हस्तिनापुर में नशिया मार्ग पर जुलाई 1974 में एक भूमि क्रय की गई, जहाँ सर्वप्रथम 24वें तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी की अवगाहना प्रमाण सात हाथ (सवा दस फुट) ऊँची खड्गासन प्रतिमा विराजमान करने हेतु फरवरी 1975 में एक लघुकाय जिनालय का निर्माण किया गया, जो सन् 1990 में एक अनोखे 'कमल मंदिर' के रूप में निर्मित हुआ है। यहाँ विराजमान कल्पवृक्ष भगवान महावीर से यह अतिशय क्षेत्र निरंतर प्रगति पथ पर अग्रसर होता हुआ नित्य नये निर्माणों के द्वारा संसार में अद्वितीय पर्यटन स्थल के रूप में प्रसिद्ध हुआ है। इस प्रतिमा के दर्शन करके भक्तगण अपनी मनोकामनाएँ पूर्ण करते हैं।

जम्बूद्वीप निर्माण का प्रथम चरण—जुलाई सन् 1974 में रखी गई नींव के आधार पर जम्बूद्वीप के बीचोंबीच में सर्वप्रथम आगम वर्णित सुमेरुपर्वत (101 फुट ऊँचा) का निर्माण अप्रैल सन् 1979 में एवं सन् 1985 में जम्बूद्वीप रचना का निर्माण पूर्ण हुआ। सोलह जिनमंदिरों से समन्वित उस सुमेरुपर्वत के अंदर से निर्मित 136 सीढ़ियों से चढ़कर श्रद्धालु भक्त समस्त भगवन्तों के दर्शन करके जब सबसे ऊपर पाण्डुकशिला के निकट पहुँचते हैं, तो नीचे जम्बूद्वीप रचना के सभी नदी, पर्वत, मंदिर, उपवन आदि दृश्यों के साथ-साथ हस्तिनापुर के आसपास के सुदूरवर्ती ग्रामों का भी प्राकृतिक सौंदर्य देखकर फूले नहीं समाते हैं।

यात्री सुविधा—हस्तिनापुर तीर्थ में जम्बूद्वीप स्थल के पूरे परिसर में संस्थान द्वारा कार्यालय का सक्रिय संचालन किया जाता है। वहाँ यात्रियों के ठहरने हेतु आधुनिक सुविधायुक्त 200 कमरे, 50 से अधिक डीलक्स फ्लैट एवं अनेकों गेस्ट हाउस (बंगले) बने हुए हैं। इसके साथ ही यहाँ सुन्दर भोजनालय है जहाँ यात्रियों को सुविधापूर्वक शुद्ध भोजन प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त 2 किमी. दूर हस्तिनापुर सेन्ट्रल टाउन में सरकारी अस्पताल, डाकखाना, बाजार, इंटरकालेज तथा अन्य शिक्षण संस्थाएँ आदि सभी आवश्यक सुविधाएँ उपलब्ध हैं।

हस्तिनापुर कैसे पहुँचे ?—भारत की राजधानी दिल्ली से 110 किमी. पश्चिमी उत्तरप्रदेश में जिला-मेरठ से 40 किमी. दूर हस्तिनापुर तीर्थ है। राजधानी दिल्ली से हस्तिनापुर के लिए अंतर्राज्यी बस अड्डे अथवा आनंद विहार बस अड्डे से उत्तरप्रदेश रोडवेज तथा डी.टी.सी. बसों की निरंतर सेवा उपलब्ध है। मेरठ से भी प्रति आधे घंटे के अंतराल से जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर पहुँचने हेतु रोडवेज की बसें सुलभता के साथ उपलब्ध रहती हैं। 'जम्बूद्वीप' के नाम से ये बसें चलती हैं जो सीधे जम्बूद्वीप के सामने ही रुकती हैं और जम्बूद्वीप से ही मेरठ, दिल्ली, तिजारा आदि यात्रा हेतु बसें उपलब्ध रहती हैं। दिल्ली और मेरठ के बीच रेल सेवा भी है। देश-विदेश के यात्रीगण हस्तिनापुर पधारकर इस धरती का स्वर्ग मानी जाने वाली 'जम्बूद्वीप रचना' के दर्शन करें और मानसिक शांति का अनुभव करते हुए मनवांछित फल प्राप्त करें, यही मंगलकामना है।

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला के शिरोमणि संरक्षक

1. श्रीमती निर्मला जैन ध.प. स्व. श्री प्रेमचन्द्र जैन, तत्पुत्र प्रदीप कुमार जैन, खारी बावली, दिल्ली-6।
2. श्रीमती सुमन जैन ध.प. श्री दिग्विजय सिंह जैन, इंदौर।
3. श्री महावीर प्रसाद जैन संघपति, जी-19, साऊथ एक्सटेन्शन, नई दिल्ली।
4. श्री महेन्द्र पाल हरेन्द्र कुमार जैन, सूरजमल विहार, दिल्ली।
5. श्रीमती मोहनी जैन ध.प. श्री सुनील जैन, प्रीत विहार, दिल्ली।
6. श्री देवेन्द्र कुमार जैन (धारूहेड़ा वाले) गुड़गाँव (हरि.)।
7. श्रीमती शारदा रानी जैन ध.प. स्व. रिखबचंद जैन, बाहुबली एन्क्लेव, दिल्ली-92।
8. डॉ. देवेन्द्र कुमार जैन, भोपाल (म.प्र.)
9. श्रीमती संगीता जैन ध.प. श्री संजीव कुमार जैन, शेरकोट (बिजनौर) उ.प्र.
10. श्री अनिल कुमार जैन, दरियागंज, दिल्ली
11. श्री बी.डी. मदनाइक, मुम्बई
12. श्री धनकुमार जैन, बाहुबली एन्क्लेव, दिल्ली-92।
13. श्री जितेन्द्र कुमार जैन एवं श्रीमती सुनीता जैन कोटड़िया, फ्लोरिडा, यू.एस.ए.
14. श्रीमती विमला देवी जैन ध.प. श्री ओमप्रकाश जैन, स्वालिक नगर, हरिद्वार (उत्तराखंड)।
15. श्री अमित, संभव जैन सुपुत्र श्रीमती अनीता जैन ध.प. श्री मूलचंद जैन पाटनी, दिसपुर (आसाम)
16. श्रीमती अजित कुमारी जैन ध.प. श्री महेन्द्र कुमार जैन, ओबेदुल्लागंज (रायसेन) म.प्र.।
17. श्री नाभिकुमार जैन, जैन बुक डिपो, सी-4, पी.वी.आर. प्लाजा के पीछे, कनॉट प्लेस, नई दिल्ली।

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला के परम संरक्षक

1. श्री माँगीलाल बाबूलाल पहाड़े, हैदराबाद (आन्ध्र प्रदेश)।
2. डॉ. प्रकाशचन्द्र जैन, 792 विवेकानंदपुरी, सिविल लाइन, सीतापुर (उ.प्र.)।
3. श्री सुमत प्रकाश जैन, गज्जू कटरा, शाहदरा, दिल्ली।
4. श्री सुनील कुमार जैन, द्वारा-सुनील टैक्सटाईल्स, सरधना (मेरठ) उ.प्र.।
5. स्व. श्री प्रकाश चंद अमोलक चंद जैन सर्राफ, सनावद (म.प्र.)।
6. श्री प्रद्युम्न कुमार जवेरी, रोकड़ियालेन, बोरीवली (वेस्ट) मुंबई।
7. श्रीमती उर्मिला देवी ध.प. श्री कान्ती प्रसाद जैन, ऋषभ विहार, दिल्ली।
8. श्रीमती उषा जैन ध.प. श्री विमल प्रसाद जैन, ऋषभ विहार, दिल्ली।
9. श्री आनन्द प्रकाश जैन (सौरम वाले) , गांधीनगर, दिल्ली।
10. श्रीमती सरिता जैन ध.प. श्री राजकुमार जैन, किदवई नगर, कानपुर।
11. स्व. श्रीमती कैलाशवती ध.प. श्री कैलाश चन्द्र जैन , तोपखाना बाजार, मेरठ।
12. श्री भानेन्द्र कुमार जैन, द्वारा-श्री विद्या जैन, भगत सिंह मार्ग, जयपुर।
13. श्री प्रदीप कुमार शान्तिलाल बिलाला, अनूपनगर, इंदौर, (म.प्र.)।
14. श्री सुरेशचंद पवन कुमार जैन, बाराबंकी (उ.प्र.)।
15. श्री नथमल पारसमल जैन, कलकत्ता-7।
16. श्रीमती स्व. शांताबाई ध.प. श्री कमलचंद जैन, सनावद (म.प्र.)।
17. श्री रूपचंद जैन कटारिया, दिल्ली
18. श्री आशु जैन, कालका जी, नई दिल्ली
19. श्री प्रद्युम्न कुमार जैन छोटी सा., श्री अमरचंद जैन सर्राफ, लखनऊ (उ.प्र.)
20. श्रीमती शशि जैन ध.प. श्री दिनेशचंद जैन, शिवालिक नगर, हरिद्वार (उत्तराखंड)।
21. स्व. सुशीला देवी-स्व. एडवोकेट जम्मनलाल, संघपति प्रमोद-सौ. सुनीता, कु. अंजली, ऋषभ, मनोज कासलीवाल जैन, औरंगाबाद (महा.)
22. डॉ. पन्नालाल-सौ. कुमकुमदेवी, संजय-सौ. अंजली, अजय-सौ. रिद्धी, कु. ब्राह्मी पापड़ीवाल, पैठण-औरंगाबाद, विजय-सौ. माधुरी, प्रशान्त-सौ. कोमल, चि. युवम पापड़ीवाल, पैठण-औरंगाबाद (महा.)

अध्यात्म रश्मि

(समयसार की कतिपय विशेष गाथाओं के आधार पर)

ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो।।११।।
व्यवहारनय भूतार्थ अभूतार्थ रूप है।
निश्चय के भी भूतार्थ अभूतार्थ भेद हैं।।
भूतार्थ के आश्रय से जो सम्यक्त्वप्राप्ति है।
वह जीव कहा सम्यग्दृष्टि वीतराग है।।११।।

अर्थ—व्यवहारनय अभूतार्थ है और निश्चयनय भूतार्थ है अतः भूतार्थ का आश्रय लेने वाला जीव वास्तव में सम्यग्दृष्टि होता है।

आचार्य श्री अमृतचन्द्र सूरि ने आत्मख्याति टीका में इस गाथा के भाव को स्पष्ट करते हुए लिखा है—'यथा प्रबल पंकसंवलन.....' अर्थात् जैसे बहुत सी कीचड़ के मिश्रण से जिसका सहज एक स्वभाव आच्छादित हो गया है ऐसे गन्दे जल को ही कोई नर पीते रहते हैं तथा कोई उस जल को प्रयोगों के आधार पर शुद्ध करके पीते हैं। इसी प्रकार कर्म कीचड़ से संयुक्त आत्मा का अनुभव तो व्यवहारीजन करते हैं एवं कर्म से आत्मा को अलग करके शुद्ध आत्मा का अनुभव निश्चयनय वाले शुद्धात्म ध्यानी करते हैं।

आचार्य श्री जयसेन स्वामी ने तात्पर्यवृत्ति टीका में खोला है कि व्यवहारनय भूतार्थ और अभूतार्थ के भेद से दो प्रकार का होता है तथा निश्चयनय भी भूतार्थ-अभूतार्थ के भेद से दो प्रकार का होता है।

उपर्युक्त गाथा से वर्तमान में कुछ लोग ऐसा अर्थ निकाल लेते हैं कि शुद्धनय का आश्रय लेने वाले सम्यग्दृष्टि हैं और व्यवहारनय का आश्रय लेने वाले मिथ्यादृष्टि होते

हैं किन्तु ऐसी बात कथमपि नहीं है क्योंकि आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने स्वयं गाथा नं. ७ 'ववहारेणुवदिस्सइ ..... में व्यवहार रत्नत्रय को बतलाया है, निश्चयनय से तो आत्मा के न दर्शन है, न ज्ञान है और न चरित्र ही है। वह तो मात्र ज्ञायक स्वरूप शुद्धात्मा है अतः यहाँ आचार्य परम्परानुसार यह अर्थ ग्रहण करना चाहिए कि जब शुद्धनय का आश्रय लेने वाले शुद्ध सम्यग्दृष्टि अर्थात् निश्चय सम्यग्दृष्टि हैं तो व्यवहारनय का आश्रय लेने वाले व्यवहार सम्यग्दृष्टि या सरागसम्यग्दृष्टि हैं। अगली गाथा में स्वयं श्री कुंदकुंददेव व्यवहारनय की सार्थकता बता रहे हैं।

प्राथमिक अवस्था के शिष्यों के लिए आचार्यों ने व्यवहारनय प्रयोजनीभूत कहा है। अध्यात्म की भाषा में ये प्राथमिक शिष्य चतुर्थ, पंचम, छठे और सातवें गुणस्थानवर्ती जीव लिए गए हैं, यहाँ मिथ्यादृष्टियों को प्राथमिक शिष्य में भी नहीं लिया गया है।

निष्कर्ष यही निकलता है कि असंयत सम्यग्दृष्टि से लेकर छठे गुणस्थानवर्ती जीव व्यवहार और निश्चय दोनों नयों के द्वारा वस्तु का स्वरूप समझकर व्यवहारनय का अवलंबन लेकर शुभ प्रवृत्ति करते हैं और इसके आगे के महामुनि निश्चयनय के विषयभूत शुद्ध आत्मा का आश्रय लेकर शुद्धोपयोग में स्थित हो जाते हैं, इसलिए यह सिद्ध हो जाता है कि व्यवहारनय मिथ्यादृष्टि के नहीं होता है किन्तु उनके तो मात्र व्यवहाराभास ही रहता है अतः वह व्यवहारनय हमारे और आपके लिए प्रयोजनीभूत ही है, यह विश्वास रखते हुए जिनभक्ति, दान, संयम, गुरुभक्ति आदि व्यवहारिक कार्यों से कभी विमुख नहीं होना चाहिए अन्यथा वर्तमान में निश्चयनय की प्राप्ति के अभाव में व्यवहार को भी तिलांजलि देने से "इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः" वाली स्थिति उत्पन्न हो जावेगी।

इसी बात को गाथा नं. १२ में स्पष्ट कर रहे हैं—

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे।।१२।।
जो परम शुद्ध भावना को प्राप्त हुए हैं।
उनके लिए ही उपादेय शुद्धनय कहें।।
श्रज्ञवक व मुनी जो सराग भाव में स्थित।
इन सबके अपरमभाव में व्यवहारनय कथित।।१२।।

अर्थ—जो परमभाव के दर्शी हैं उनको शुद्ध आत्मा का कथन करने वाला शुद्धनय ही जानने योग्य है किन्तु जो अशुद्ध भाव में स्थित हैं उनको व्यवहारनय का उपदेश देना योग्य है।

तीर्थ और तीर्थफल की व्यवस्था आचार्य श्री अमृतचन्द्रसूरि ने भी व्यवहारनय से मानी है। उन्होंने "उक्तं च" कहकर एक श्लोक दिया है, जिसका भावार्थ इस प्रकार है—

यदि तुम जिनमत में प्रवृत्ति करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय इन दोनों नयों को मत छोड़ो क्योंकि एक व्यवहार के बिना तीर्थ का नाश हो जाएगा और अन्य निश्चय के बिना तत्त्व का नाश हो जाएगा अर्थात् व्यवहारनय से चौथे गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक धर्मतीर्थ चलता है और निश्चयनय से यह आत्मा शुद्ध है, ऐसा भाव होने से आत्मतत्त्व की उपलब्धि होती है। यह उपलब्धि चौथे से छठे तक श्रद्धा से, सातवें से बारहवें तक उपयोग में एवं तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान में पूर्ण रूप से हो जाती है।

विचार करके देखा जाए तो उपयोग की यह शुद्ध अवस्था बारहवें गुणस्थान में ही घटेगी। जहाँ पर बुद्धिपूर्वक पञ्चपरमेष्ठी आदि सम्बन्धी शुभ राग भी नहीं है, ऐसी निर्विकल्प दशा में ही शुद्धोपयोग कहा जाता है परन्तु इससे पूर्व जहाँ बुद्धिपूर्वक राग-द्वेष प्रवृत्तियाँ हो रही हैं ऐसे चतुर्थ, पंचम व छठे गुणस्थान में 'परमभाव' का अनुभव असम्भव ही है। "असंयतसम्यग्दृष्टि जो कि सतत ही विषय कषायों में संलग्न हो रहा है उसको शुद्ध परमभाव का अनुभव आ रहा है" ऐसी बात कोई भी बुद्धिमान स्वीकार नहीं कर सकता है। हाँ, श्रद्धा में उसके यह बात अवश्य है कि मेरी आत्मा शुद्ध निश्चयनय से पूर्ण शुद्ध है, सिद्ध सदृश है, उसमें पुद्गल कर्मों का मिश्रण नहीं है, अणुमात्र भी पुद्गल द्रव्य का मेरे साथ सम्बन्ध नहीं है। ऐसी श्रद्धा होते हुए भी उपयोग में तो विषय कषायों के पोषण के समय अशुभ उपयोग भी हो जाता है और दान, पूजा, सामायिक, स्वाध्याय आदि शुभ कार्यों में प्रवृत्त होने से शुभ राग मिश्रित उपयोग रहता है क्योंकि सातवें गुणस्थान तक भी शुभोपयोग माना है। सवस्त्र अवस्था में तो क्या निर्वस्त्र अवस्था में मुनियों के भी आवश्यक आदि क्रियाओं के समय निर्विकल्प ध्यान नहीं माना है और निर्विकल्प ध्यान के बिना शुद्धोपयोग कैसे हो सकता है ?

दूसरी बात यह भी है कि स्वयं अमृतचन्द्रसूरि भी कह रहे हैं कि तीर्थ और तीर्थफल की व्यवस्था व्यवहारनय से ही होती है। जहाँ तक सराग चारित्र है वहाँ तक तीर्थ की प्रवृत्ति रूप व्यवहारनय प्रयोजनीभूत है। एक कलशकाव्य में भी उन्होंने बताया है—

"जिन्होंने स्वयं दर्शनमोह का शमन कर दिया है ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव व्यवहार और निश्चय इन दोनों नयों के विरोध को दूर करने वाले, स्यात्पद से चिन्हित ऐसे जिनेन्द्रदेव के वचन में रमण करते हैं—प्रीति करते हैं वे शीघ्र ही समयसार को—शुद्ध आत्मा को देख लेते हैं। कैसा है यह समयसार ? जो उत्कृष्ट परमज्योति स्वरूप है, अकृत्रिम है और एकांतवादियों के कुनय पक्षों से खंडित नहीं हो सकता है ऐसे समयसार को वे मुनिराज प्राप्त कर लेते हैं।

दोनों गाथाओं का निष्कर्ष यही निकलता है कि आज इस पंचमकाल में गृहस्थ और मुनि दोनों के लिये व्यवहानय भूतार्थ—प्रयोजनीभूत है अतः सभी को यथायोग्य चर्या का पालन करते हुए शुद्ध निश्चयनय का श्रद्धान अवश्य करना चाहिए और समयसार ग्रंथ का सदुपयोग करते हुए निश्चयाभासी नहीं बनना चाहिए।

प्रश्न—समयसार की १३वीं गाथा में भूतार्थ से जाने गए ९ तत्त्व (पदार्थ) को ही सम्यक्त्व कह दिया है सो वे तत्त्व भला सम्यक्त्व कैसे हो सकते हैं ?

उत्तर—सबसे पहले आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी की इस गाथा का ध्यान से अवलोकन करें—

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
आसवसंवरणिज्जर बंधो मोक्खो य सम्मत्तं।।१३।।

भूतार्थ से जाने गए जो जीवाजीव हैं।
जो पुण्य पाप आस्त्रव संवर भी तत्त्व हैं।।
निर्जर व बंध मोक्ष ये सम्यक्त्व कहे हैं।
व्यवहार से ये मुक्ति के साधक भी हुए हैं।।१३।।

अर्थ—भूतार्थ से जाने हुए जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये नव तत्त्व ही सम्यक्त्व हैं।

यूं तो सम्यग्दर्शन के प्रकरण में आत्मा का श्रद्धानरूप भाव सम्यग्दर्शन कहलाता है किन्तु यहाँ नव तत्त्वों को ही सम्यग्दर्शन कहने का तात्पर्य यही है कि कारण में कार्य का उपचार करके अभेदोपचार से ये तत्त्व भी सम्यग्दर्शन हैं। चूँकि ये नव तत्त्व जो श्रद्धान रूप सम्यक्त्व हैं उसके लिए कारण हैं अथवा उसके विषय हैं, इस दृष्टि से भी विषय नवतत्त्व और विषयी सम्यक्त्व इनमें अभेद करके अभेदोपचार से इन्हें ही सम्यक्त्व कह दिया है अतः इस कथन में कोई दोष नहीं समझना चाहिए।

प्रश्न—भूतार्थ का लक्षण क्या है ?

उत्तर—निश्चयनय या शुद्धनय को भूतार्थ कहते हैं अथवा वस्तु के वास्तविक स्वरूप को बतलाने वाला भूतार्थनय कहलाता है। आचार्य श्री जयसेन स्वामी की तात्पर्यवृत्ति टीका में इस विषय पर प्रश्न आया है जो द्रष्टव्य है।

प्रश्न—नव पदार्थ भूतार्थ से जाने गये सम्यक्त्व होते हैं ऐसा आपने कहा है तो वह भूतार्थ परिज्ञान कैसे हो सकता है ?

उत्तर—यद्यपि तीर्थ प्रवृत्ति के लिए प्राथमिक शिष्यों की अपेक्षा से ये नव पदार्थ भूतार्थ कहे जाते हैं फिर भी अभेदरत्नत्रय लक्षण निर्विकल्पसमाधि के काल में अभूतार्थ अर्थात् असत्यार्थ हैं क्योंकि ये शुद्धात्मा के स्वरूप नहीं हैं। उस परमसमाधि के काल में

इन नव पदार्थों में से शुद्ध निश्चयनय से एक शुद्ध आत्मा ही प्रद्योतित होता है— प्रकाशित होता है, प्रतीति में आता है और अनुभव में आता है।

इस प्रकार वह अनुभूति ही गुण और गुणी में निश्चयनय से अभेद की विवक्षा करने पर शुद्धात्मा का स्वरूप है, यह अभिप्राय हुआ।

यहाँ पर तो स्पष्ट रूप से श्री जयसेनाचार्य ने कह दिया है कि ये नव पदार्थ अभेद रत्नत्रय लक्षण निर्विकल्पध्यान में अभूतार्थ हैं इसके पहले तक भूतार्थ हैं। इससे यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि शुद्धोपयोग के पहले-पहले यह निश्चय सम्यक्त्व भी नहीं होता है।

प्रश्न—समयसार में तत्त्वों का क्रम तत्त्वार्थसूत्र ग्रंथ से बिलकुल भिन्न है तो क्या कुन्दकुन्दस्वामी ने गाथा बनाने हेतु यह क्रम रखा है अथवा दूसरा कोई हेतु हो सकता है ?

उत्तर—तत्त्वों का यह क्रम गाथा रचना के हिसाब से नहीं है। आचार्यश्री कुन्दकुन्दस्वामी गौतम स्वामी के क्रमानुसार चले हैं। इसका सबल प्रमाण यह है कि मुनि-आर्यिकाओं का पाक्षिक प्रतिक्रमण जो कि प्रत्येक चतुर्दशी को साधुगण पढ़ते हैं उसमें वीरभक्ति से पूर्व आता है—

"से अभिमद-जीवाजीव-उवलद्ध-पुण्णपाव-आसव-संवर-णिज्जर-बन्ध मोक्खमहिकुसले" देखो ! इन पंक्तियों में भी तत्त्वों का वही क्रम है जो ऊपर समयसार की गाथा में है।

प्रश्न—आपको यह कैसे पता चला कि कुन्दकुन्द देव गौतम स्वामी के अनुसार चले हैं इसलिए ऐसा क्रम रखा है। अनुमानतः तो यह भी कहा जा सकता है कि गाथा की सेटिंग हेतु उन्होंने यह क्रम रखा होगा, क्योंकि तत्त्वों की सुचारु व्यवस्था तो तत्त्वार्थ सूत्र के क्रमानुसार ही ठीक बैठती है ?

उत्तर—नहीं, ऐसी बात नहीं है। उन्होंने केवल इस छन्द में ही नहीं बल्कि अपने पूरे समयसार के अध्यायों को भी इसी क्रम से विभाजित किया है। जैसे सबसे पहले जीवाजीवाधिकार, पुनः कर्तृकर्माधिकार, पुण्य-पाप अधिकार, आस्रव अधिकार, संवर अधिकार, निर्जराधिकार, बन्धाधिकार, मोक्षाधिकार और अन्त में सर्वविशुद्धि ज्ञानाधिकार है।

मूलाचार में भी उन्होंने तत्त्वों के वर्णन में यही गाथा रखी है। समयसार ग्रंथ अध्यात्म ग्रंथ है, मूलाचार चरणानुयोग का ग्रंथ है अतः इसमें इस क्रम से कथन करने में कोई हानि नहीं है। तत्त्वार्थ सूत्र सिद्धान्तग्रंथ कहलाता है अतः वहाँ क्रमपूर्वक ही तत्त्वों का कथन पाया जाता है।

प्रश्न—वर्तमान में जो प्रतिक्रमण आदि क्रियाओं की पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं उनमें तो ग्रंथ संपादकों ने इस क्रम को सुधारकर तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार आस्रव के बाद बंध, संवर, निर्जरा कर दिया है। आप भी यदि इसे सुधार कर पढ़ें, पढ़ावें या छपवावें तो क्या हानि है ?

उत्तर—आजकल तो सुधारीकरण का युग चल गया है वैसे यह व्यवस्था बहुत गलत है। पूर्वाचार्यों की वाणी में किए गए मनमाने सुधार उनका अवर्णवाद हैं। मेरी धारणा में पापभीरू विद्वानों को ऐसा नहीं करना चाहिए अन्यथा एक दिन प्राचीन आचार्यों की वाणी का तो लोप ही हो जाएगा।

भगवान महावीर की साक्षात् दिव्यध्वनि का पान करने वाले गौतम गणधर के मुख से निकले शब्दों में शब्दों के क्रम का परिवर्तन करना जहाँ दोषास्पद है वहीं एक नैतिक अपराध भी है। कुन्दकुन्दाचार्य जिनका नाम गौतम स्वामी के पश्चात् लिया जाता है उन्होंने भी इसी क्रम को अपने ग्रंथों में स्थान दिया है किन्तु सिद्धान्त ग्रंथ के तत्त्वार्थसूत्र रचयिता उमास्वामी ने अपनी पृथक् कृति में 'जीवा-जीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरा-मोक्षास्तत्त्वम्' इस सूत्र के द्वारा सैद्धान्तिक क्रम बताया है, इसी क्रम को अकलंक देव, पूज्यपाद, विद्यानन्दि आदि आचार्यों ने अपने तत्त्वार्थराजवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि और श्लोकवार्तिक आदि टीका ग्रंथों में अपनाया है।

खास बात तो यह है कि ग्रंथ रचयिता अपनी अलग कृति में जिनशासन की मर्यादा को ध्यान में रखते हुए किसी प्रकार की भाषा का प्रयोग कर सकता है किन्तु पूर्वाचार्यों अथवा वर्तमान में दूसरे की कृति में छोटा सा परिवर्तन भी अनर्थकारी हो सकता है अतः जहाँ जो पाठ है वहाँ उसी क्रम से उस पाठ को पढ़ना चाहिए, शिष्यों को पढ़ाना चाहिए तथा ग्रंथों के पुनर्प्रकाशन में वैसा ही प्रकाशित करना चाहिए। आज के विद्वान गौतम स्वामी और कुन्दकुन्द से अधिक ज्ञानी नहीं हो सकते हैं अतः उनकी कृतियों में रंचमात्र भी परिवर्तन नहीं करना चाहिए।

प्रश्न—हमारे लिए तो सभी पूर्वाचार्य प्रमाण हैं फिर परस्पर में ही इन तत्त्वों के बारे में ऐसा अन्तर क्यों दिख रहा है ?

उत्तर—जैसा जिस आचार्य ने जहाँ कहा है आपको तो प्रकरण के अनुसार उसे वहीं प्रामाणिक मानना चाहिए। जैसा कि मैंने पहले बताया है कि अध्यात्म ग्रंथ और चरणानुयोग में कई कथनों में अक्रम देखा जाता है किन्तु सिद्धान्त ग्रंथों में सर्वत्र क्रमानुसार ही वर्णन है, जैसे—पांच इन्द्रिय, बारह तप, बारह भावना आदि के क्रम में भी अन्तर है।

मूलाचार में "चक्खू सोदं घाणं" इत्यादि गाथा सूत्र द्वारा चक्षुइंद्रिय, श्रोत्रेन्द्रिय,

घ्राणेन्द्रिय का क्रम है किन्तु सिद्धान्त ग्रंथों में स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण यही क्रम है। इसी क्रमानुसार एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय जीवों तक की पहचान होती है लेकिन यदि मूलाचार के उपर्युक्त कथन में परिवर्तन करके क्रमानुसार कर दें तो यह अनधिकृत चेष्टा कहलाएगी अतः भिन्न-भिन्न आचार्यों की मान्यता को उन्हीं के अनुसार ग्रहण करना चाहिए।

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणाहि।।१४।।
जो जीव निजात्मा को सदा देख रहे हैं।
स्पर्श बंध अन्यत्व रहित जान रहे हैं।।
अविशेष असंयोगि को वह शुद्धनय ही है।
इन सबसे सहित जीव स्वयं शुद्धनय ही है।।१४।।

अर्थ—जो आत्मा को कर्मबंध से रहित, पर के स्पर्श से रहित, अनन्य, अवस्थित, विशेष रहित और अन्य के संयोग से रहित देखता है, तुम उसे ही शुद्धनय जानो।

प्रश्न—इस गाथा में आचार्यश्री कुन्दकुन्द देव ने शुद्ध नय का वर्णन किया है, फिर क्या कोई नय अशुद्ध भी है?

उत्तर—अध्यात्म ग्रंथों में मुख्य रूप से निश्चयनय और व्यवहारनय इन दो ही नयों का वर्णन पाया जाता है तथा निश्चयनय को शुद्ध नय और व्यवहार नय को अशुद्ध नय भी संज्ञा प्राप्त है। इन दोनों नयों के दो-दो भेद भी होते हैं। व्यवहारनय के सद्भूत व्यवहारनय, असद्भूत व्यवहारनय। निश्चयनय के शुद्ध निश्चयनय व अशुद्ध निश्चयनय।

प्रश्न—तत्त्वार्थ सूत्र ग्रंथ में आचार्यश्री उमास्वामी ने ''नैगमसंग्रहव्यवहार-ऋजुसूत्र शब्दसमभिरूढ़एवंभूतानयाः''। इस प्रकार सात नयों का विवेचन किया है तथा अन्य आलाप पद्धति आदि ग्रंथों में भी इसी प्रकार नयों के अनेक भेद किये हैं। इसमें तो कहीं शुद्धनय या अशुद्धनय ऐसी संज्ञा नहीं आई है, पुनः क्या आचार्यों के कथन में मतभेद माना जाये?

उत्तर—पृथक्-पृथक् ग्रंथों में एक ही विषय का भिन्न-भिन्न रूप से यदि कथन पाया जाता है तो इसमें कोई दोष नहीं समझना चाहिए बल्कि इस भिन्नता को समझने का प्रयास करना चाहिए समयसार, नियमसार आदि ग्रंथ तो आध्यात्मिक ग्रंथ हैं, इन ग्रंथों में नयों के नाना भेद न लेकर केवल दो ही नयों से वस्तुतत्त्व का बोध कराया गया है, क्योंकि अध्यात्म ग्रंथ नयों के विस्तार के ग्रंथ नहीं हैं तथा तत्त्वार्थसूत्र व आलापपद्धति आदि ग्रंथ सिद्धांत ग्रंथ हैं, इनमें नयों का विस्तार से वर्णन पाया जाता है। प्राथमिक अवस्था में नयों को विस्तार से समझना आवश्यक है। पश्चात् नयों के सम्पूर्ण भेदों को

शुद्धनय और अशुद्धनय ऐसे दो विभागों में विभक्त किया जा सकता है इसलिए आचार्यों के कथन में विरोध नहीं समझना चाहिये।

प्रश्न—यह हमने मान लिया कि नयों के अनेक भेदों को संक्षिप्त रूप से कथन करने पर शुद्धनय व अशुद्धनय इन दो नयों के रूप में विभाजित कर सकते हैं और चूँकि अध्यात्म ग्रंथ में नयों का विस्तार न होकर वस्तु तत्त्व को समझाने का प्रयास किया गया है इसलिए मुख्यता से दो नयों का वर्णन किया है। फिर भी जब प्रत्येक नय अपने-अपने विषय को ग्रहण करते हैं तो किसी नय को शुद्ध नय कहना और किसी को अशुद्ध नय कहना यह बात तो उचित नहीं लगती है?

उत्तर—यहाँ पर कार्य में कारण का उपचार किया गया है। मोटे तौर पर वस्तु के दो स्वभाव हैं—एक शुद्ध स्वभाव एवं एक अशुद्ध स्वभाव। शुद्ध स्वभाव का जो वर्णन करे वह शुद्ध नय है और अशुद्ध स्वभाव का जो वर्णन करे वह अशुद्ध नय है।

प्रश्न—यहाँ पर जो आपने शुद्ध स्वभाव एवं अशुद्ध स्वभाव की बात कही है तो एक ही पदार्थ शुद्ध और अशुद्ध दोनों कैसे हो सकता है ?

उत्तर—इसी बात को समझाने के लिये तो ये अध्यात्म शास्त्र हैं। जैसा कि इस समयसार की गाथा नं. १४ में आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव ने कहा है कि जो आत्मा को कर्मबन्ध से रहित, पर के स्पर्श से रहित, अनन्य, अवस्थित, विशेष रहित और अन्य के संयोग से रहित देखता है उसे तुम शुद्धनय जानो। इस कथन से यह बात स्पष्ट होती है कि आत्मा कर्मबंध से रहित है, यह शुद्धनय का कथन है। अन्य गोम्मटसार आदि ग्रंथों के अनुसार यही आत्मा कर्मबंध सहित मानी गई है। जहाँ पर कर्मबंध सहित आत्मा का वर्णन किया जाएगा वहां उस कथन को करने वाला अशुद्धनय या व्यवहारनय होगा। ये दोनों नय अपने-अपने ही विषय को ग्रहण करते हैं। प्रत्येक पदार्थ की शुद्ध-अशुद्ध दोनों अवस्थाएँ पाई जाती हैं, इन्हीं अवस्थाओं का ज्ञान कराने के लिये इन नयों का कथन है।

प्रश्न—अब प्रश्न होता है कि एक ही पदार्थ में दोनों अवस्थाएँ एक साथ कैसे पाई जाती हैं ?

उत्तर—इसे इस प्रकार समझना चाहिए जैसे कि एक ही राम-पति भी है, पिता भी है, भाई भी है, पुत्र भी है। सीता के पति हैं, लवकुश के पिता हैं, लक्ष्मण के भाई हैं तथा दशरथ के पुत्र हैं। इसी प्रकार एक ही समय में एक ही पदार्थ के भिन्न-भिन्न धर्म होने में कोई बाधा नहीं है क्योंकि संसारी अवस्था में आत्मा के ऊपर कर्मों का आवरण पड़ा हुआ है इसलिए कर्मबंध से सहित है। जब वहीं आत्मा कर्मबंध से छूटकर अपनी

शुद्ध पर्याय को प्राप्त कर लेता है तब मुक्त कहलाता है क्योंकि कर्मों से बंधा रहना यह उसका स्वभाव नहीं है और ऐसी शुद्ध आत्मा के स्वरूप का श्रद्धान भी इसी संसारी अवस्था में किया जा सकता है इसलिये एक ही समय में दोनों अवस्थाएं रहती आवें, इसमें कोई विरोध नहीं आता है।

विशेष बात यह है कि संसारी अवस्था में चौथे गुणस्थान से छठे गुणस्थान तक व्यवहारनय का आलम्बन लेकर आत्मा की शुद्ध दशा को प्रगट किया जाता है। सातवें से बारहवें गुणस्थान तक निश्चयनय का अवलम्बन लेकर आत्मा की शुद्ध दशा को प्रगट किया जाता है। सातवें से बारहवें गुणस्थान तक निर्विकल्प समाधि, अभेद अवस्था एवं शुक्लध्यान के द्वारा जो शुद्ध आत्मा का अनुभव किया जाता है वही शुद्धनय है इसके बाद नयातीत अवस्था प्राप्त हो जाती है। टीकाकार श्री अमृतचन्द्रसूरि के शब्दों में देखिये—

आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिका या, ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुद्ध्वा।
आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिष्प्रकंपमेकोस्ति-नित्यमवबोधधनः समंतात्।।१३।।

जो शुद्धनय से आत्म अनुभव ज्ञान वैभव है यही।
है गुण गुणी में भेद संज्ञा वस्तु भेद कभी नहीं।।
जो विज्ञजन निज में ही निज को धार निश्चल ध्यावते।
सब ओर से नित ज्ञान-घन इक शुद्धरूप हि भासते।।१३।।

"जो शुद्धनय के आश्रित होने वाली आत्मा की अनुभूति है वही ज्ञान की अनुभूति है ऐसा निश्चय से समझ करके अपनी आत्मा में ही अपने को अविचल स्थापित करके नित्य ही सब तरफ से यह आत्मा एक ज्ञानधन स्वरूप है, ऐसा अनुभव करना चाहिए।"

इस प्रकार व्यवहारनय एवं निश्चयनय अर्थात् अशुद्धनय एवं शुद्धनय दोनों का स्वरूप समझकर इन दोनों नयों का अवलम्बन लेकर अपनी आत्मा को नयातीत अवस्था जो कि कर्म कलंक से रहित निष्कलंक है, ऐसी प्रगटता रूप अवस्था को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए और जब तक इस अवस्था की प्राप्ति न हो तब तक इसका श्रद्धान व पुरुषार्थ करना चाहिये, यही आचार्यश्री कुन्दकुन्ददेव की इस गाथा का सार है।

कब तक यह जीव अप्रतिबुद्ध अर्थात् अज्ञानी रहता है इस बात को आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव ने ग्रंथराज समयसार की गाथा नं. १९ में बताया है।

कम्मे णोकम्महि य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव।।१९।।

ये कर्म औ नोकर्मरूप में "मैं" को मान्यता।
मेरे ही हैं ये भाव सदा इनका मैं कर्त्ता।।

निश्चय से ऐसी बुद्धी बहिरातमा की हो।
इससे न कभी प्राप्ति शुद्ध आतमा की हो।।१९।।

अर्थ—कर्म और नोकर्म में मैं हूं और ये कर्म, नोकर्म मेरे हैं। जब तक ऐसी बुद्धि रहती है तब तक निश्चित ही यह जीव अज्ञानी रहता है।

विशेषार्थ—समयसार, नियमसार आदि ग्रंथों में आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव ने जहाँ-जहाँ अज्ञानी शब्द का प्रयोग किया है उन सभी स्थानों पर अज्ञानी शब्द के अर्थ में भिन्नता आई है–सर्वप्रथम इस बात को समझ लेना आवश्यक है। अज्ञानी संज्ञा आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव के अनुसार मिथ्यादृष्टि प्रथम गुणस्थानवर्ती जीव को तो है ही। ये तो प्रथम प्रकार के अज्ञानी हैं अथवा मिथ्यादृष्टि को अज्ञानी तो प्रायः सभी कहते ही हैं लेकिन सम्यग्दृष्टि को अज्ञानी किस प्रकार कहा गया है इसे हमें आचार्य श्री कुन्दकुन्द के शब्दों में समयसार आदि ग्रंथों से देखना है। आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव ने वीतराग चारित्र से च्युत अर्थात् शुद्धोपयोग, परमसमाधि, अभेद रत्नत्रय आदि लक्षण वाली एकाग्र परिणति से च्युत जीव को भी अज्ञानी कहा है और यह अज्ञानी का लक्षण छठे गुणस्थान में घटित होता है क्योंकि सातवें गुणस्थान से पूर्व तो शुद्धोपयोग आदि उपरोक्त लक्षण किन्हीं भी आचार्यों ने माने नहीं हैं तो वहाँ पर सम्यग्दृष्टि शुभोपयोग में वर्तन करने वाले मुनिराजों को अज्ञानी कहकर सम्बोधित किया गया है, ये समयसार के द्वितीय प्रकार के अज्ञानी हैं। इससे और ऊपर तृतीय प्रकार के अज्ञानी भी आचार्य श्री कुन्दकुन्द के शब्दों में कहे गये हैं, ये हैं १२वें गुणस्थान तक के जीव। इन्हें १३ वें गुणस्थानवर्ती केवलज्ञानी की अपेक्षा अज्ञानी कहा है क्योंकि इनका ज्ञान क्षायोपशमिक ज्ञान है, यहाँ तक अभी छद्मस्थला है इसलिए ज्ञान की पूर्णता न होने से इन्हें अज्ञानी कहा है। इस प्रकार समयसार में अज्ञानी शब्द को अपेक्षाकृत घटित करके आचार्य श्री कुन्दकुन्द के अभिप्राय को हृदयंगम करना ही इष्ट रहेगा।

उपरोक्त समयसार की गाथा नं. १९ की टीका करते हुए आचार्य श्री अमृतचंद्र सूरि, आचार्य श्री जयसेन भी एवं हिन्दी टीका में पू. गणिनीप्रमुख आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी ने क्या कहा है, इसे देखना है।

आचार्य श्री अमृतचंद्र सूरि ने लिखा है कि आत्मा के तिरस्कार करने वाले जो पुद्गल के परिणमन हैं, ऐसे मोहादि अंतरंग परिणामरूप कर्म तथा शरीर आदि बहिरंग पदार्थ इनमें जब तक इस प्रकार की बुद्धि है कि ये भाव कर्म व द्रव्य कर्म रूप मैं हूँ और ये मेरे हैं अर्थात् ये आत्मस्वरूप हैं—आत्मा के हैं तब तक यह जीव अज्ञानी रहता है, यह लक्षण आचार्य श्री अमृतचंद्र स्वामी के अभिप्रायानुसार मिथ्यादृष्टि में घटित होता है क्योंकि पर में आत्मबुद्धि होना तो बहिरात्मा का ही लक्षण सर्वत्र कहा गया है—

इस लक्षण वाले जीव में तो भेदविज्ञानमूलक किरणें ही अभी प्रस्फुटित नहीं हुई हैं अतः मिथ्यादृष्टि प्रथम गुणस्थानवर्ती अज्ञानी ही है।

इसी बात को कलशकाव्य में आचार्यश्री अमृतचंद्रसूरि ने और स्पष्ट किया है—

कथमपि हि लभंते भेदविज्ञान मूलामचलितमनुभूतिं ये स्वतो वान्यतो वा।
प्रतिफलननिमग्नानंतभावस्वभावैर्मुकुरवदविकाराः संततं स्युस्त एव।।२१।।

जो व्यक्ति स्वयं अन्य के उपदेश यत्न से।
निज भेद ज्ञानमूल निश्चल अनुभव लहे।।
वे संत निज में नंत भाव प्रतिफलित किए।
दर्पण समान फिर भी निर्विकार ही रहे।।२१।।

अर्थात् जो महामुनि जिस किसी भी तरह स्वतः या अन्य के निमित्त से इस भेद विज्ञानमूलक, निश्चल, अनुभूति को प्राप्त कर लेते हैं वे ही महासाधु दर्पण के सदृश अपने में प्रतिबिंबित हुए अनंत भावों, पदार्थों के स्वभावों से निरन्तर विकार रहित हो जाते हैं अर्थात् वे साधु अपने ज्ञान में ज्ञेयों के आकार के झलकने पर भी रागादि भाव को प्राप्त नहीं होते हैं मात्र ज्ञाता दृष्टा बने रहते हैं।

परवर्ती आचार्यश्री जयसेनस्वामी ने भी उपरोक्त अमृतचंद्रसूरि के ही अभिप्राय को अपनी तात्पर्यवृत्ति टीका में प्रगट किया है। देखिये—

"अभेदरूप से जब तक कर्म नोकर्म के साथ शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव निज परमात्मा में एकता रूप स्पष्ट बुद्धि बनी रहती है तभी तक यह आत्मा अप्रतिबुद्ध स्वसंवेदन से शून्य बहिरात्मा बना रहता है।" यह लक्षण भी मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा अज्ञानी में घटित होता है।

पर पदार्थों में आत्मबुद्धि का होना ही तो सम्यक्त्व का घात करने वाला है इसीलिये संसार के अनंत ज्ञेय ज्ञानी के ज्ञान में झलकते हैं लेकिन ज्ञानी उन्हें अपने नहीं मानता है, जिस प्रकार दर्पण में अच्छे-बुरे अनंत पदार्थ झलकने के बाद भी कोई भी पदार्थ दर्पण रूप नहीं होता है, न ही दर्पण उस पदार्थ रूप होता है, दर्पण से वे समस्त पदार्थ भिन्न ही रहते हैं उसी प्रकार ज्ञान में ज्ञेय का आना अज्ञान दशा नहीं है। उनमें आत्मबुद्धि होना अज्ञान दशा है यही दशा संसार के अज्ञानी जीवों की हो रही है। यह जीव आत्मा के शुद्ध बुद्ध ज्ञायक भावरूप स्वभाव को न समझकर कर्म नोकर्म से प्राप्त सुख दुख में तथा नाना परिणामों में आत्मबुद्धि स्थापित कर लेता है और उस आत्मबुद्धि की परिणति के कारण बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि अज्ञानी बना रहता है अतः उपरोक्त गाथा को पढ़कर हमें समस्त ज्ञेयपदार्थ कर्म, नोकर्म, भावकर्म सभी को पर समझकर आत्माराधना में लगना चाहिए तथा ये मेरे नहीं हैं, मैं इनका नहीं हूँ, ये सभी ज्ञेय हैं वैभाविक हैं, हटाने

योग्य हैं, ऐसी बुद्धि करके अपनी मनुष्य पर्याय को सार्थक कर लेना चाहिए क्योंकि मनुष्य पर्याय के अलावा इस प्रकार के भेद विज्ञान को प्राप्त करके निश्चल अनुभूति रूप शुद्धोपयोग की भूमिका में वर्तन करना, शुद्धोपयोग के फलस्वरूप परमात्म पद को प्राप्त करना अन्य किसी भी पर्याय में सभव नहीं है। यह मनुष्य पर्याय अत्यंत दुर्लभता से प्राप्त हुई है, उसमें परपदार्थों को ही अपने मान-मानकर जीवन भर हर्ष-विषाद , राग और द्वेष करके अपने जीवन को निरर्थक खोना उपयुक्त नहीं है। ऐसी निश्चल अनुभूति की प्राप्ति के लिए राग, द्वेष, मोह एवं द्रव्यकर्म नोकर्म से आत्मबुद्धि को समाप्त करके ज्ञानी बनना ही इस गाथा के पढ़ने की सार्थकता होगी।

आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी अज्ञानी प्राणियों को समझाने का पुरुषार्थ करते हुए कहते हैं—

अण्णाणमोहिदमदी मज्झमिणं भणदि पुग्गलं दव्वं।
बद्धमबद्धं च तहा जीवो बहुभावसंजुत्तो।।२३।।
सव्वण्हुणाणदिट्ठो जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं।
कह सो पुग्गलदव्वी भूदो जं भणसि मज्झमिणं।।२४।।
जदि सो पुग्गलदव्वी-भूदो जीवत्तमागदं इदरं।
तो सत्तो वुत्तुं जे मज्झमिणं पुग्गलं दव्वं।।२५।।

अज्ञान से मोहितमती जिस जीव की हुई।
पुद्गल अजीव आदि को आत्मा कहें वह ही।।
देहादि रूप बद्ध अबद्ध पौद्गलिक ग्रहण।
मिथ्यात्व भाव सहित, जीव इनमें ही मगन।।२३।।

सर्वज्ञज्ञान दृष्टि में जो जीव द्रव्य है।
वह नित्य ज्ञान दर्शन उपयोगयुक्त है।।
तब तो भला वह जीव कैसे पुद्गलात्म है।
मेरे हैं ये पुद्गल तेरा कथन अनात्म है।।२४।।

यदि जीव वह पुद्गलमयी हो जाय कभी भी।
पुद्गल भी जीवरूप करे परिणमन कभी।।
तब तो मेरे पुद्गल हैं तेरा कथन सत्य है।
पर तीन काल में भी यह होना अशक्य है।।२५।।

अज्ञान से मोहित बुद्धि वाला जीव इन संबद्ध और असंबद्ध पुद्गल द्रव्यों को मेरा कहता है उसी प्रकार यह बहुत भावों से सहित हो रहा है किन्तु सर्वज्ञ के ज्ञान में देखा

गया यह जीव सदा ही उपयोग लक्षण वाला है वह पुद्गलद्रव्यरूप कैसे हो सकता है ? जो कहता है कि यह मेरा है, यदि वह पुद्गलद्रव्य रूप हो जावे तो अन्य पुद्गल जीवरूप हो जावेगा तब तो यह कहना शक्य होगा कि यह पुद्गल द्रव्य मेरा है।

इन्हीं गाथाओं की टीका करते हुए आचार्य श्री अमृतचन्द्र सूरि ने कहा है कि अज्ञानी जीव ऐसा अनुभव करता है कि अचेतन पर द्रव्य मेरे हैं। उस अज्ञानी की पहचान क्या है ? अत्यन्त आच्छादित हुए अपने स्वभाव से जिसकी समस्त भेदज्ञान ज्योति अस्त हो गई है, महा अज्ञान से जिसका हृदय अपने आप ही विमोहित हो रहा है, अपने और पर का अर्थात् आत्मा और पुद्गल का भेद नहीं करने वाले प्राणों को आचार्य ने अज्ञानी की संज्ञा प्रदान की है।

जैसे स्फटिक मणि स्वयं में बिलकुल शुद्ध, निर्मल, पारदर्शक होती है किन्तु उसके पीछे अनेक रंग वाले चित्र-विचित्र पदार्थ रख दिए जावें तो स्फटिक का स्वयं स्वच्छ निर्मल भाव नहीं दिखता है उसी प्रकार कर्मों की उपाधि से आत्मा का शुद्ध स्वभाव आच्छादित हो रहा है अतः शुद्ध स्वभाव को नहीं देखने के कारण जीव अन्य पुद्गल द्रव्यों को ही अपना मानने लगता है। उसी अज्ञानी प्राणी को आचार्य समझा रहे हैं—

रे दुरात्मन्, आत्मपंसन् , जहीहि जहीहि परमाविवेकघस्मरसतृणाभ्यवहारित्वं।

हितोपदेशी गुरुवर परम करुणा भाव से हम और आप जैसे अज्ञानियों को कटु शब्दों में भी संबोधित करते हैं—

हे दुरात्मन् ! अरे आत्मघाती ! आत्मवंचक ! तू छोड़, छोड़। परम अविवेक से अतिगृद्धि को करके तृण सहित भोजन को छोड़ अर्थात् जैसे सुन्दर भोजन में भी घास आदि तृणों को मिलाने पर ही हाथी आदि पशु रुचिपूर्वक खाते हैं उसी प्रकार से तू भी सुन्दर आत्मतत्त्व को पुद्गल आदि तृणों सहित रुचिपूर्वक अनुभव करता है अतः अब इस स्वभाव को छोड़ दे क्योंकि जैसे नमक जल रूप और जल नमक रूप तो हो सकता है किन्तु आत्मा पुद्गल रूप और पुद्गल जीव रूप कभी भी नहीं होता है इसलिए आत्मा को शुद्ध रूप से अनुभव करने का अभ्यास कर ले।

इसी बात को एक कलश काव्य में श्री अमृतचन्द्र सूरि ने कहा है—

—मालिनी छन्द—

अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतुहली सन् , अनुभव भव मूर्त्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तं।
पृथगथ विलसंतं स्वं समालोक्य येन, त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहं।।२३।।

हे भव्य तू किसी तरह सहकर हि दुख उठा।
तत्त्वों का बन कुतूहली इक पल शरीर का।।

पड़ोसी बनकर आत्म अनुभव कर जभी पृथक्।
कर आत्मदर्श एकपन के तन का मोह तज।।२३।।

हे वत्स ! तू किसी तरह मर-पचकर भी तत्त्वों का कौतूहली होता हुआ इस शरीर के पड़ोसी—आत्मा का एक मुहूर्त तक भी अनुभव कर, जिससे कि अपनी आत्मा को प्रकाशरूप पर द्रव्यों से पृथक् देखकर इस शरीर के साथ एकत्त्व के मोह को शीघ्र ही छोड़ सके।

श्री जयसेनाचार्य ने भी कहा है—

सर्वज्ञज्ञान में देखा गया यह जीव पदार्थ नित्य ही केवलज्ञान, दर्शन लक्षण उपयोग वाला है, पुनः वह जीव पुद्गल द्रव्य कैसे हो सकता है ? यदि कदाचित् यह जीव द्रव्य पुद्गल द्रव्य हो जाता और शरीर आदि पुद्गल द्रव्य जीवपने को प्राप्त हो जाते तब तो 'पुद्गल मेरा है' इस प्रकार तेरी मान्यता सत्य हो सकती थी लेकिन प्रत्यक्ष में ही इसमें विरोध दिखता है, देखो ! शरीर के भीतर से आत्मा आयु समाप्त होते ही निकल जाती है, कभी कोई आत्मा शरीर को लेकर परलोक नहीं जाता है।

वास्तव में निश्चयनय से यह जीव शुद्ध, बुद्ध, चिच्चमत्कार रूप एक ज्ञान दर्शन स्वभावी ही है तथा व्यवहारनय से पुद्गल नय शरीर के साथ संबंध रखते हुए भी स्वयं कभी अचेतन—जड़रूप नहीं हुआ है इसीलिए आचार्यगण उसे बार-बार संबोधित करते हुए कहते हैं कि हे आत्मन् ! 'अयि कथमपि मृत्वा' तू जैसे-तैसे मर-पचकर भी अर्थात् पूर्ण परिश्रम करके किसी तरह आत्मतत्व की चर्चा में रस ले। जैसे—पड़ोसी के सुख-दुःख में दूसरा पड़ोसी अपनी सहानुभूति दिखलाते हुए भी अंतरंग से सुखी-दुखी नहीं होता है; उसी प्रकार से शरीर के सुख-दुख में तू भी हर्ष-विषाद से परिणत न होकर आत्मतत्त्व में लीन होकर उसका अनुभव कर और उस शरीर के साथ अपनेपन का मोह छोड़ दे।

जैसे माता-पिता अपनी संतान को योग्य बनाने हेतु उसे दण्ड भी देते हैं उसी प्रकार गुरू भी अपने शिष्यों को मोक्ष प्राप्त कराने हेतु कडुवे शब्दों के द्वारा उसकी ताड़ना भी करते हैं, इसमें दोष नहीं प्रत्युत् गुण है। गुरू के कटु शब्दों को सहन करने वाला शिष्य ही शीघ्र आत्मा का उत्थान कर पाता है।

श्री जयसेनाचार्य के अनुसार उपर्युक्त गाथाओं की क्रम संख्या २८, २९, ३० है। ये तीनों गाथाएँ रत्नत्रय की पूर्णता को बतलाने वाली हैं। प्रत्येक साधु को इन्हें हृदयंगम अवश्य करना चाहिए तथा श्रावकों को इन पर श्रद्धा करते हुए अन्तरात्मा बनने का प्रयास करना चाहिए। निश्चयनय से जीव के बारे में बताते हैं—

जदि जीणो ण सरीरं तित्थयरायरियंसंथुदी चेव।
सव्वावि हवदि मिच्छा तेण दु आदा हवदि देहो।।२६।।
ववहारणयो भासदि जीवो देहो य हवदि खलु इक्को।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एकट्ठो।।२७।।

प्रभु! यदि ये जीव औ शरीर एक नहीं है।
तो तीर्थकर व मुनियों की स्तुती व्यर्थ है।।
इनके शरीर वर्ण आदि कथन व्यर्थ हों।
अतएव देह आत्म एक कथन सत्य हो।।२६।।

व्यवहारनय कहता है जीव देह एक है।
हे शिष्य! वह संयोग को स्वीकार करे है।।
लेकिन नहीं निश्चय से जीव देह एक है।
व्यवहार से देहादि की स्तुति भी सत्य है।।२७।।

अर्थ—यदि जीव शरीर नहीं है तो पुनः सभी तीर्थंकरों, आचार्यों की स्तुति करना मिथ्या ही हो जायेगा, इसलिए आत्मा शरीर ही है ऐसा समझ में आता है।

व्यवहारनय कहता है कि जीव और शरीर निश्चित ही एक है किन्तु निश्चयनय का कहना है कि जीव और शरीर कभी भी एक पदार्थ नहीं हैं।

विशेषार्थ—अंतरंग व बहिरंग परिग्रह को जिन्होंने छोड़ दिया है ऐसे जिनलिंग के धारी, विशाल संघ के नायक, पंचमकाल के प्रभावक आचार्य १०८ श्री कुन्दकुन्द ने अपनी पवित्र लेखनी से ८४ पाहुड़ ग्रंथों की रचना की है, ऐसा इतिहासकारों ने खोज कर स्पष्ट किया है। ऐसे महान आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव ने समयसार, नियमसार, प्रवचनसार, रयणसार आदि ग्रंथों में निश्चयनय व व्यवहारनय दोनों नयों के विषयों का स्थान-स्थान पर विवेचन करते हुए अनेकांत दृष्टि को पाठकों के समक्ष प्रगट किया है क्योंकि दोनों में से कोई एक नय का कथन तो एकांत कथन होगा और एकांत कथन अनेकांत नहीं हो सकता तथा जो अनेकांत नहीं होगा वह सम्यक् नहीं हो सकता। इसी बात को उपरोक्त समयसार ग्रंथराज की गाथा २६-२७ से समझा जा सकता है।

गाथा नं. २६ में शिष्य ने आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव के समक्ष एक प्रश्न उपस्थित किया है, जिसका समाधान आचार्य परमेष्ठी द्वारा गाथा नं. २७ में दिया गया है।

शिष्य ने अपने प्रश्न को इस प्रकार प्रगट किया है कि आत्मा और शरीर यदि दो पदार्थ हैं—पृथक्-पृथक् हैं तब तो तीर्थंकरों और आचार्यों की स्तुति करना मिथ्या हो जावेगा क्योंकि तीर्थंकरों की स्तुति करते हुए स्वयं आचार्यों ने लिखा है 'द्वौ कुन्देन्दुतुषार

हार धवलौ द्वाविन्द्रनीलप्रभौ—इत्यादि, अर्थात् दो तीर्थंकर कुन्दपुष्प, चन्द्रमा, बर्फ या हार के समान श्वेत वर्ण वाले हैं इत्यादि प्रकार से तीर्थंकरों की स्तुति की है तथा आचार्यों की स्तुति करते हुए लिखा है—

देसकुलजाइसुद्धा विसुद्धमणवयणकायसंजुत्ता।
तुम्हं पायपयोरुहमिह मंगलमत्थु मे णिच्चं।।१।। आचार्य भक्ति।

अर्थात् देश, कुल और जाति से शुद्ध, विशुद्ध मन, वचन, काय से संयुक्त हे आचार्यवर्य ! आपके चरणकमल नित्य ही मेरे मंगल के लिए होवें। यह सब स्तुतियाँ व्यर्थ हो जावेंगी क्योंकि इन स्तुतियों में तो शरीर की ही स्तुति है, आत्मा के गुण की बात तो है ही नहीं—ऐसी मेरी एकांतिक मान्यता है।

उपरोक्त प्रश्न का समाधान आचार्यश्री कुन्दकुन्द देव ने अगली गाथा नं. २७ में इस प्रकार दिया है कि व्यवहारनय कहता है कि कथंचित् जीव व शरीर एक है परन्तु निश्चयनय कहता है कि जीव व शरीर कदापि भी एक नहीं है। यही अनेकांत है और यही अनेकांत दृष्टि जैन दर्शन का सार है, हृदय है।

इस गाथा की टीका करते हुए आचार्यश्री अमृतचंद्र सूरि ने लिखा है—

''इह खलु परस्परावगाढावस्थायामात्मशरीरयोः समावर्तितावस्थायां कनककलधौतयोरेकस्कंधव्यवहारवद्व्यवहारमात्रेणैवैकत्वं न पुनर्निश्चयतः। निश्चयतो ह्यात्मशरीरयोरुपयोगानुपयोगस्वभावयोः कनककलधौतयोः पीतपांडुरत्वादि स्वभावयोरिवात्यंतव्यतिरिक्तत्वेनैकार्थत्वानुपपत्तेः नानात्वमेवेत्येवं हि किल नयविभागः। ततो व्यवहारनयेनैव शरीरस्तवनेनात्मस्तवनमुपपन्नं।''

"इस लोक में आत्मा और शरीर का एक क्षेत्रावगाही सम्बन्ध होने से व्यवहारमात्र से ही इन दोनों में एकत्व है कि न निश्चयनय से। जैसे कि सोना और चाँदी को गलाकर एक कर देने से दोनों एकमेक रूप में मिल जाते हैं तब उनमें एक स्कंध–एक पिंड का व्यवहार होता है, वह व्यवहार से ही है न कि वास्तव में। निश्चय से आत्मा उपयोग स्वभाव वाला है और शरीर जड़ स्वभाव वाला है, इन दोनों में अत्यन्त भिन्नता होने से इनमें एक पदार्थ का होना सम्भव नहीं है प्रत्युत भिन्न–भिन्नपना ही है, यही तो नय विभाग है। जैसे कि सोना पीले स्वभाव वाला है और चाँदी सफेद स्वभाव वाली है, इन दोनों में स्वभावभेद होने से अत्यन्त भिन्नता ही है, एकरूपता नहीं है इसलिए व्यवहारनय से शरीर की स्तुति करने से ही आत्मा का स्तवन हो जाता है।"

इसी प्रकार की टीका लिखते हुए आचार्यश्री जयसेन स्वामी ने अपनी टीका के अंत में लिखा है—

''तत कारणात् व्यवहारनयेन देहस्तवनेनात्मस्तवनं युक्तं भवतीति नास्ति दोषः।''

"इसलिए व्यवहारनय से शरीर का स्तवन करने से आत्मा का स्तवन हो जाता है ऐसा युक्त उचित ही है, इसमें कोई दोष नहीं है।"

विशेष—इन दोनों गाथाओं के रचनाकार भगवान आचार्यश्री कुन्दकुन्द देव एवं परवर्ती टीकाकार आचार्य श्री अमृतचन्द्र सूरि व श्री जयसेनस्वामी तीनों आचार्यों की लेखनी के द्वारा तत्त्व का प्रतिपादन करते हुए व्यवहारनय के कथन को उचित ठहराया गया है पुनः आज यदि कोई महानुभाव व्यवहारनय को झूठा—मिथ्या—अप्रयोजनीभूत कहकर उसकी उपेक्षा करें या उसको हेय कहें तो उनका कथन प्रामाणिक कैसे हो सकता है ? या तो उनके कथन को गलत कहना होगा या उपरोक्त तीनों आचार्यों के कथन को मिथ्या कहना होगा क्योंकि दोनों कथन परस्पर विरोधी होने से दोनों तो सत्य नहीं हो सकते। दोनों में से कोई एक ही सत्य हो सकता है। फिर आचार्यों के कथन को मिथ्या ठहराना तो बनेगा नहीं इसलिए स्पष्ट रूप से यही कहना होगा कि जो व्यवहारनय को हेय कहकर प्रवचन करते हैं उनका कथन असत्य कथन है व अप्रमाणीक कथन है। अपेक्षा दृष्टि से ही दोनों नयों का कथन करना सम्यक् है और दोनों नय अपने-अपने कथन के प्रति सम्यक् हैं, उनमें जरा भी संशय की बात नहीं है इसीलिए उपरोक्त गाथा की टीका में यह सिद्ध किया गया है कि व्यवहारनय के द्वारा शरीर की स्तुति करने से आत्मा की स्तुति हो जाती है ऐसा समझना चाहिए अतः इस बात को और विस्तार से समझने के लिए समयसार की उपरोक्त गाथाओं को बार-बार पढ़कर अपने श्रद्धान को सही कर लेना चाहिये तथा देव, शास्त्र, गुरु की व्यवहार स्तुति में कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए बल्कि विनयपूर्वक, श्रद्धाभाव से की गई भक्ति व स्तुति स्वर्ग और मोक्ष को परम्परा से प्रदान कराने वाली है इसमें अटल विश्वास रखना प्रत्येक सम्यग्दृष्टि का कर्तव्य है।

मुनिराज को जितमोह बताते हुए कहा है कि—

जो मोहं तु जिणित्ता, णाणसहावाधियं मुणइ आदं।
तं जिदमोहं साहुं, परमट्ठवियाणया विंति।।३२।।
जिदमोहस्स दु जइया, खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स।
तइया हु खीणमोहो, भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं।।३३।।

जो मोह को उपशांत कर श्रेणी में चढ़ रहे।
निज ज्ञानयुक्त आतमा में लीन हो रहे।।
परमार्थ के ज्ञाता उन्हें जितमोह कह रहे।
उपशांत मोह ग्यारवें गुणस्थान को कहें।।३२।।

जिसने समस्त मोहकर्म नाश कर दिया।
उसने ही क्षीणमोह पद को प्राप्त कर लिया।।
उनको हि गणधरादि क्षीणमोह कह रहे।
ये बारवें गुणस्थान के निर्ग्रन्थ मुनी हैं।।३३।।

अर्थ—जो मुनिराज मोह को जीतकर आत्मा को ज्ञान स्वभाव से परिपूर्ण अनुभव करते हैं उस साधु को परमार्थ के ज्ञाता पुरुष 'जितमोह' कहते हैं।।३२।।

मोह को जीतने वाले साधु का जिस समय मोह नष्ट हो जाता है उस समय निश्चय के वेत्ता मुनि निश्चित ही उन साधु को 'क्षीणमोह' ऐसा कहते हैं।।३३।।

आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव ने आत्मा की निश्चयस्तुति करते हुए इन दोनों गाथाओं में जितमोह और क्षीणमोह संज्ञा वाले मुनियों को नमस्कार किया है। यद्यपि जितमोह एवं क्षीणमोह पदों में कोई शाब्दिक अर्थभेद नहीं है तथापि गुणस्थान की अपेक्षा भेद बताते हुए श्री जयसेनाचार्य ने अपनी तात्पर्यवृत्ति टीका में 'जितमोह' से 'उपशांत मोह' अर्थात् ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती मुनि को लिया है क्योंकि श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने ही अगली गाथा ''जिदमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स'' में यह स्पष्ट कर दिया है कि जब जितमोह मुनि के सम्पूर्ण मोह नष्ट हो जाता है तब वे क्षीणमोह मुनि कहलाते हैं।

यहाँ भावी नैगमनय की अपेक्षा से जो मोह को जीतने में तत्पर हैं उन्हें जितमोह की संज्ञा प्रदान कर दी है। जैसे कोई राजा युद्धक्षेत्र में अपने शत्रु को बन्दी बना लेवे, उस समय शत्रु के जीवित रहते हुए भी उस राजा को जितशत्रु कह दिया जाता है क्योंकि शत्रु तो राजा के अधीन हो चुका है तथा वही राजा जब अपने शत्रु को मारकर समूल नष्ट कर देता है तब वह पूर्णरूप से निष्कंटक होकर राज्य का अधिकारी बन जाता है तब वह क्षीणशत्रु या शत्रुञ्जय कहलाता है। इसी प्रकार से मोह को जिन्होंने अपने वश में कर लिया है उन्हें उपशान्त मोह कहा है और जिन्होंने मोह कर्म को नष्ट कर दिया है तथा तीन घातिया कर्मों को नष्ट करने के सम्मुख हैं उन्हें क्षीणमोह कहा है। दोनों में अन्तर इतना है कि क्षीणमोह वाला पुनः कभी मोह को प्राप्त नहीं हो सकता है और उपशान्त मोह वाले का मोह पुनः प्रगट हो सकता है।

समयसार को पढ़ते समय श्री जयसेनाचार्य के सरल शब्दों पर अवश्य ध्यान देना चाहिए जो सर्वत्र मूल ग्रंथकार की गाथाओं का आगे-पीछे सन्दर्भ जोड़कर ही अर्थ करते हैं तथा श्री अमृतचन्द्रसूरि के मन्तव्य का ही खुलासा करते हैं।

दूसरी बात इन गाथाओं में भगवान की स्तुति को व्यवहारनय और निश्चयनय के विभाग से स्पष्ट किया है। पूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी ने ३३

वीं गाथा की आत्मख्याति हिन्दी टीका के भावार्थ में लिखा है—

'वास्तव में चतुर्थ गुणस्थानवर्ती और पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक तो व्यवहारनय के आश्रय से ही स्तुति करते हैं। मुनिराज मन, वचन, काय की क्रियापूर्वक व्यवहारनय के आश्रय से ही स्तुति करते हैं और पुनः निर्विकल्प ध्यान में स्थित होकर निश्चयस्तुति रूप से परिणत हो जाते हैं। पहले यदि कोई मुनि उपशम श्रेणी में चढ़ गए तो वे 'जितमोहजिन' कहलाते हैं और यदि वे ही मुनि श्रेणी से उतरकर पुनरपि क्षपक श्रेणी में चढ़ते हैं तो वे 'क्षीणमोहजिन' कहलाते हैं। ये जितमोह ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती हैं और क्षीणमोह मुनि बारहवें गुणस्थानवर्ती हैं ऐसा समझना।'

यह तो हुई बात जितमोह और क्षीणमोह की, अब निश्चयस्तुति कैसे होती है ? इस कथन का प्रतिपादन किया जाता है—आचार्य श्री अमृतचन्द्र सूरि ने २७ में कलशकाव्य में व्यवहार और निश्चयस्तुति को स्पष्ट किया है।

'एकत्वं व्यवहारतो न तु पुनः.....इत्यादि अर्थात् शरीर और आत्मा में व्यवहारनय से एकत्व है न कि निश्चयनय से, इसलिए शरीर की स्तुति से आत्मा की स्तुति व्यवहारनय से होती है न कि निश्चयनय से। निश्चयनय से तो चैतन्य की स्तुति से ही चैतन्य की स्तुति होती है।

यहाँ जितेंद्रिय होना ही निश्चयस्तुति है ऐसा कहा है, यह जितेन्द्रिय अवस्था मुनि हुए बिना संभव नहीं है।

धवला पुस्तक ९ में "णमो जिणाणं" सूत्र के अन्तर्गत आचार्य श्री वीरसेन स्वामी ने जिन शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है—

जिणा दुविहा सयलदेसजिणभेएण.....अर्थात् सकलजिन और देशजिन के भेद से जिन दो प्रकार के होते हैं। जो घातिया कर्मों का क्षय कर चुके हैं वे सकल जिन हैं। वे कौन हैं ? अरहंत और सिद्ध। इनसे इतर आचार्य, उपाध्याय और साधु तीव्र कषाय, इन्द्रिय एवं मोह को जीतने वाले होने से देशजिन कहलाते हैं।

निश्चयस्तुति तो निर्विकल्प ध्यान में ही होती है। जहाँ पर स्तुति, स्तुत्य और स्तोता का भेद ही नहीं रहता है वहीं निश्चय स्तुति प्रगट होती है। इससे पहले चौथे गुणस्थान से लेकर छठे गुणस्थान तक भी व्यवहारनय के आश्रित व्यवहारस्तुति होती है। जैसा कि स्वयं श्री कुन्दकुन्द देव ने दश भक्तियों की रचना करके व्यवहारस्तुति का प्रमाण प्रस्तुत किया है।

आचार्यश्री जिनसेन स्वामी ने आदिपुराण में भेदनय की विवक्षा से स्तुति आदि चार भेदों का सुन्दर वर्णन किया है—

स्तुतिः पुण्यगुणोत्कीर्तिः स्तोता भव्यः प्रसन्नधीः।
निष्टितार्थो भवांस्तुत्यः फलं नैश्रेयसं सुखं।।

भगवान के पुण्य गुणों का स्तवन करना स्तुति है, प्रसन्न बुद्धि वाला भव्यात्मा स्तवन करने वाला स्तोता है, हे भगवन् ! आप कृतकृत्य हुए भगवान् स्तुति के योग्य होने से स्तुत्य हैं और उस स्तुति का फल मोक्षसुख है। ये चारों भेद जहाँ समाप्त हो जाते हैं वहीं अभेद अवस्था में निश्चय स्तुति घटित होती है।

इस प्रकार उपर्युक्त इन दो गाथाओं में जितमोह और क्षीणमोह का लक्षण बताकर आत्मार्थी मुनि को निश्चय स्तुति करने की प्रेरणा प्रदान की है। इन्हें समझकर वर्तमान के साधु तथा श्रावकों को व्यवहार स्तुति करते हुए निश्चय का श्रद्धान करना चाहिए

मोह मेरा नहीं है इस बात को बताते हुए कहते हैं—

जह णाम कोवि पुरिसो परदव्वमिणंति जाणिदुं चयदि।
तह सव्वे परभावे णाऊण विमुंचदे णाणी।।३५।।
णत्थि मम को वि मोहो बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को।
तं मोहणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति।।३६।।

जैसे कोई पुरुष पराई वस्तु जानकर।
निश्चित ही छोड़ देता है परद्रव्य मानकर।।
वैसे ही परवस्तू को छोड़ मुनी जो बने।
वे पर विभाव भाव छोड़ निज में ही रमें।।३५।।

निश्चय से मेरा कोई नहीं मैं न किसी का।
मैं एक ज्ञायक रूप हूँ पर में नहीं रमता।।
उस महासाधु को ही निर्ममत्व कहा है।
शुद्धात्म ज्ञानियों ने उन्हें शुद्ध कहा है।।३६।।

अर्थ—जैसे जगत में कोई पुरुष 'यह परद्रव्य है' ऐसा जानकर उसे छोड़ देता है वैसे ही समस्त परभावों को 'पर' ऐसा जानकर ज्ञानी उन्हें छोड़ देता है।।३५।।

"मोह मेरा कोई भी नहीं है, मैं एक उपयोग स्वरूप ही हूँ" ऐसा जो जानता है उसको समय के जानने वाले पुरुष मोह से निर्मम कहते हैं।।३६।।

विशेषार्थ—आचार्यश्री कुन्दकुन्ददेव की उपरोक्त गाथाओं की टीका करते हुए आत्मख्याति टीकाकार दिगम्बर जैनाचार्य श्री अमृतचन्द्रसूरी ने अपनी टीका में लिखा है कि जैसे कोई पुरुष भ्रम से धोबी के घर से दूसरे का वस्त्र लाकर और उसे अपना समझ कर सो गया। उसने यह नहीं जाना कि यह अन्य किसी का वस्त्र है पुनः अन्य पुरुष उसके वस्त्र के अंचल को खींचकर उसे जबरदस्ती नग्न करते हुए बोला "तू जल्दी

उठ'' यह बदल कर आया हुआ वस्त्र मेरा है, मेरा वस्त्र मुझे दे दे। बार-बार ऐसे वचन सुनकर और सभी चिन्हों से उस वस्त्र को अच्छी तरह देखकर उसने निश्चित कर लिया कि यह वस्त्र पराया ही है। तब ऐसा जानकर ज्ञानी समझदार होता हुआ उसके वस्त्र को शीघ्र छोड़ देता है। इसी प्रकार यह आत्मा भी भ्रान्ति से परकीय भावों को अर्थात् परपदार्थों को ग्रहण कर उन्हें अपना समझ कर अपने में ही स्थापित कर अर्थात् अपने से एकरूप मानकर स्वयं अज्ञानी होकर सो रहा था तब गुरुदेव ने उसे परभाव का भेदविज्ञान कराकर एक आत्मभावरूप कराते हुए कहा कि ''तू शीघ्र ही जाग— सावधान हो जा, यह तेरी आत्मा एक ही है।'' इस प्रकार बार-बार गुरु के द्वारा कहे गये श्रुत के वचनों को सुनकर तथा सम्पूर्ण चिन्हों से अच्छी तरह परीक्षा करके इसने निश्चित कर लिया कि ये सब पर भाव हैं—पौद्गलिक होने से पर हैं, पुनः ऐसा जानकर वही जीव ज्ञानी होता हुआ शीघ्र ही उन समस्त पर भावों को छोड़ देता है।

इसी बात को तात्पर्यवृत्ति टीकाकार श्री जयसेनाचार्य ने भी स्पष्ट किया है कि जिस प्रकार वस्त्र के असली मालिक के द्वारा बार-बार संबोधे जाने पर वह अज्ञानी जीव उस वस्त्र को पराया समझ कर छोड़ देता है उसी समय से वह ज्ञानी हो जाता है उसी प्रकार संसार में परिभ्रमण कर रहे अज्ञानीजनों को दिगम्बर जैन आत्मज्ञ मुनिराजों के द्वारा सम्बोधे जाने पर परवस्तु एवं परभावों को पर समझ कर छोड़ देता है और शुद्धोपयोग में स्थित होकर अपनी आत्मा के चिन्तन में लग जाता है, उसे सद्गुरु के उपदेश से ही इस बात का ज्ञान हो पाता है कि मैं एक हूँ, ये पर भाव मेरे नहीं हैं। ऐसे भेद विज्ञान को प्राप्त गुरु दिगम्बर जैन निर्ग्रंथ मुनियों के सम्बोधने से ही ऐसी दृष्टि प्राप्त होती है।

अगली गाथा नं. ३६ की टीका करते हुए इसी बात को और स्पष्ट किया है आचार्य श्री अमृतचन्द्र सूरि ने। इस गाथा में आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव ने कहा है कि मोह मेरा कोई भी नहीं है, मैं तो एक उपयोग स्वरूप हूं। वास्तव में यह बात बहुत ही सरल सी प्रतीत होती है कि मोह मेरा कुछ भी नहीं है लेकिन भेदविज्ञानी आत्मा जिसने समस्त बाह्य परिग्रह को तिलतुष मात्र समझकर और उसे छोड़कर निर्ग्रंथ दीक्षा ग्रहण कर ली है उसे ही इस बात का ज्ञान कराया जा रहा है कि मोह नामक जो भाव कर्म है वह भी तेरा कोई नहीं है इसलिए तू किसी से भी मोह मत कर! यह दृष्टि भी उसी की हो सकती है जिसने समस्त परपदार्थों से मुँह फेर लिया है, मात्र कर्मशत्रुओं से युद्ध करके उन पर विजय प्राप्त करना चाहता है। उस समय कदाचित् शिष्य परिकर आदि परपदार्थ या मिथ्यात्व रागादि परिणामों में एकत्व नहीं स्थापित कर लेवे, इसीलिए बार-बार सम्बोधन करके उसे भेद ज्ञान प्राप्त कराने का उपक्रम हो रहा है।

यहाँ यह विशेष समझने का है कि यह भेदविज्ञान चतुर्थ गुणस्थान के योग्य भेदविज्ञान की बात नहीं है, यहाँ पर सप्तम गुणस्थान के योग्य शुद्धोपयोग की भूमिका में ले जाने के लिए मुनिराजों को संबोधन किया जा रहा है। तभी तो आचार्य श्री जयसेन स्वामी ने लिखा है कि द्रव्य मोह एवं भाव मोह ये दोनों मेरे कुछ भी नहीं हैं क्योंकि मेरी आत्मा शुद्ध निश्चयनय से टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभाव वाली है, ऐसी मेरी आत्मा का इन मोह आदि से क्या सम्बन्ध है क्योंकि ये तो पौद्गलिक हैं और मेरी आत्मा चैतन्य धातु से निर्मित है। जैसे सुवर्ण और रजत दोनों धातुएं अलग-अलग हैं उसी प्रकार आत्मा और पुद्गल दोनों में अत्यन्त लक्षण भेद है। इस कारण इन दोनों का निश्चयनय से कोई सम्बन्ध हो ही नहीं सकता है। इस बात को समझकर आत्मा में स्थित होने वाले स्वसंवेदन ज्ञानी, वीतराग भेद विज्ञानी, शुद्धोपयोग में स्थित मुनिराज शीघ्र ही मोह से अपने को भिन्न कर लेते हैं इसी प्रकार मोह के समान ही अन्य जितने भी भाव कर्म, द्रव्य कर्म व नोकर्म रूप विभाव परिणाम व परपदार्थ हैं उन सबसे अपनी आत्मा को पृथक् कर लेने पर ही वीतराग भेद विज्ञान होता है, वीतराग सम्यक्दर्शन होता है। इसी के अवलम्बन से शुक्लध्यान में आरुढ़ होकर यह जीव केवलज्ञान रूपी लक्ष्मी को प्राप्त करने में सफल हो पाता है अतः परपदार्थों से अपनी आत्मा को पृथक् करने का निरन्तर अभ्यास करते रहना चाहिए ताकि एक दिन ऐसा आए कि परपदार्थ आत्मा से पृथक् होकर मात्र ज्ञायक स्वरूप आत्मा का ही अवलम्बन शेष रह जाये। इसी बात का अभ्यास करने वाले वीतरागी सन्त शिर पर अंगीठी जला देने पर भी अपने ध्यान से चलायमान नहीं होते हैं, यही सच्ची वीतरागता है, इसी सच्ची वीतरागता की प्राप्ति का उपाय उपरोक्त दोनों गाथाओं में करुणाबुद्धि से आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव ने बताया है। आत्मा के यथार्थ स्वरूप को बताते हुए ३८वीं गाथा में कहा है—

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदारूपी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तंपि।।३८।।
मैं शुद्धनय से एक हूँ शुद्धात्म रूप हूँ।
दर्शन सुज्ञानमय सदा रहता अरूपि हूँ।।
परद्रव्य भी परमाणु मात्र मेरे नहीं हैं।
व्यवहार से हैं यद्यपी निश्चय से नहीं हैं।।३८।।

अर्थ—मैं एक हूं, निश्चित ही शुद्ध हूं, दर्शन-ज्ञानमय हूं और सदा अरूपी हूं। अन्य परद्रव्य परमाणुमात्र भी मेरा कुछ भी नहीं है।

विशेषार्थ—इस गाथा में आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव ने आत्मा की वास्तविक स्थिति का चित्रण प्रस्तुत किया है।

संसारी प्राणी आत्मा को नाना प्रकार से भ्रान्तिवश विभिन्न रूपों में देखता चला आ रहा है इसीलिए इसके साथ लगी हुई अनादिकालीन मिथ्यात्व की वासना छूटती नहीं है। प्रतिसमय राग द्वेष मोह के वशीभूत होकर अपने स्वरूप को भूल चुका है और ज्ञेय पदार्थों में ही आत्मस्थ होकर सुख-दुःख की परंपरा को समाप्त नहीं कर पा रहा है। परमकारुणिक आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव ने इसी बात को समझाने के लिए इस गाथा में आत्मा के स्वरूप को खोलकर रख दिया है। एक-एक शब्द अमूल्य है और चिन्तन करने योग्य है।

प्रथम विशेषण लिया है **''मैं एक हूँ''**—इसका स्पष्टीकरण करते हुए आत्मख्याति टीकाकार दिगम्बर जैनाचार्य श्री अमृतचंद्रसूरि ने लिखा है कि समस्त क्रम और अक्रम से होने वाले जो व्यावहारिक भाव, उन भावों से मैं भेद को प्राप्त नहीं होता हूँ अतः मैं एक हूं क्योंकि मैं चिन्मात्र आकार वाला हूँ। दूसरा विशेषण लिया है कि **''मैं निश्चित ही शुद्ध हूँ''**—इस विषय का स्पष्टीकरण आचार्य श्री अमृतचन्द्रसूरि ने अपनी टीका में इस प्रकार किया है कि नारकी, तिर्यंच, मनुष्यों और देव पर्याय ये चार भेद तथा जीव को छोड़कर शेष आठ तत्व—अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष, ये सब व्यवहारनय से हैं, मैं इनसे अत्यन्त भिन्न हूँ अतः मैं निश्चयनय से शुद्ध हूं क्योंकि मैं टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभाव वाला हूँ। तीसरा विशेषण गाथा में आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव ने प्रयुक्त किया है कि **''मैं दर्शनज्ञानमय हूँ''**—इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि यह आत्मा उपयोग स्वरूप है और उपयोग दर्शनज्ञानमय है इसलिए दर्शनज्ञान को छोड़कर अन्य रूप आत्मा हो ही नहीं सकता। अगला विशेषण है कि **''मैं सदा अरूपी हूँ''**—रूप के चार भेद माने गये हैं—स्पर्श, रस, गंध और वर्ण। आत्मा का न तो कोई स्पर्श है, न हि आत्मा का कोई रस है, न गंध है और न हि उसका कोई वर्ण है इसलिए परमार्थ दृष्टि से तो आत्मा अरूपी ही है इसीलिए सदा अरूपी कहा गया है। अन्तिम बात लिखी है कि **''अन्य परद्रव्य परमाणुमात्र भी मेरा कुछ नहीं है''**—संसार में अनंत ज्ञेय है जिनके निमित्त से, यह आत्मा राग, द्वेष, मोह, मिथ्यात्व में पड़कर अपने स्वरूप को भूलकर परपदार्थ को ही अपना मान बैठता है तभी तो उनमें आसक्ति होती है लेकिन यहाँ पर आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव ने बताया है कि अपनी आत्मा को छोड़कर अन्य परमाणुमात्र भी परद्रव्य मेरा नहीं है। जब इस प्रकार की दृष्टि प्राप्त हो जाती है तो यह आत्मा मोह को जड़मूल से नष्ट कर अपने में ज्ञान की ज्योति को प्रगट करते हुए शुद्धात्मा का अनुभव करके केवलज्ञानी परमात्मा बन जाता है।

इस गाथा की टीका करते हुए आचार्य श्री अमृतचन्द्रसूरि ने टीका के अंत में कलश काव्य लिखकर जीव को शांत रस में डूबने की प्रेरणा की है उन्होंने काव्य में

लिखा है—'हे समस्त लोक के जीवों ! जो शांत रस समस्त लोक पर्यंत उछल रहा है ऐसे इस शान्त रस में आप सब एक साथ ही मज्जन—अवगाहन करो—इसमें डुबकी लगाओ। यह भगवान आत्मा ज्ञान समुद्र है यह विभ्रम–भ्रान्तिरूप चादर को शक्ति से डुबो करके—दूर करके आप सर्वांग से प्रगट हुआ है। इसके शांत रस रूप जल में आप अवगाहन करो।' इसका अभिप्राय यह है कि जैसे समुद्र की आड़ में कुछ आ जाए तब जल नहीं दीखता है और जब आड़ दूर हो जाए तब जल दिखाई देने लगता है और प्रेरणास्वरूप हो जाता है कि आओ इसमें डुबकी लगाओ। उसी प्रकार यह आत्मा जब मोह से आच्छादित हो रहा था तब इसे इसका स्वरूप नहीं दिखता था पर जब भ्रम दूर हुआ तब उसे अपने स्वरूप का भान हो गया अतः आचार्यदेव प्रेरणा देते हैं कि यह आत्मा ज्ञानरूपी रस से लबालब भरा हुआ होने से एक समुद्र के समान है। इस ज्ञान समुद्र में आप सभी लोग एक साथ निमग्न हो जावो और इसमें अवगाहन कर अनादिकालीन संसार ताप को दूर कर पूर्ण सूख का अनुभव करो।

इसी बात को पूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी ने इस गाथा की हिन्दी टीका करते हुए लिखा है कि अनादिकाल से यह जीव मोह उदय से अज्ञानी हो रहा था, जब दिगम्बर मुनिराज श्रीगुरु ने करुणा करके आत्मा का बोध कराया तब इसने यह समझ लिया कि "मैं एक हूं, शुद्ध हूँ, दर्शनज्ञानमय हूँ, अमूर्तिक हूं, अन्य परमाणुमात्र भी परद्रव्य मेरा कुछ भी नहीं है।' ऐसा भान होने से दर्शन, ज्ञान, चारित्र के साथ एकता हुई। मतलब पहले भेद रत्नत्रय को ग्रहण कर छठे गुणस्थान में प्रवृत्तिरूप चारित्र को पालने लगा पश्चात् अभेदरत्नत्रय के बल से श्रेणी में आरोहण कर पूर्णज्ञानी बन गया तब मोह कर्म का जड़मूल से नाश हो गया।

उपसंहार—चतुर्थ–पंचमगुणस्थानवर्ती गृहस्थ और श्रावक को जब भेदविज्ञान के बल से यह दृष्टि प्राप्त हो जाती है कि मैं शुद्ध–बुद्ध एक हूँ, अन्य परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है तब इस दृष्टि को प्राप्त कर वह पुरुषार्थ के बल से अपनी छिपी हुई शुद्ध–बुद्ध शक्ति को प्रगट करना चाहता है। यह निश्चित है कि निश्चय दृष्टि को प्रगट करने के लिए भेदज्ञान भी जरूरी है और भेदज्ञान के साथ ही व्यवहार चारित्र भी जरूरी है इसलिए वह श्रावक जिनलिंग को धारण कर अर्थात् जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर लेता है क्योंकि जब तक जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण नहीं करेगा तब तक शुद्धोपयोग की भूमिका का, वीतरागता का सूत्रपात ही नहीं हो सकता और जब तक उस भूमिका में आरोहण ही नहीं होगा तब तक उसकी प्राप्ति भी आकाशपुष्प के समान ही रहेगी इसलिए दिगम्बर जैन मुनिराज ही श्रेणी में आरोहण करके शुक्लध्यान की भूमिका में अपने को परद्रव्य से पृथक् कर लेते हैं और क्षपक श्रेणी में आरोहण कर दशवें गुणस्थान में मोह को समूल नष्ट कर १२ वें

गुणस्थान में पूर्ण वीतराग संज्ञा को प्राप्त कर पाते हैं, पश्चात् बारहवें गुणस्थान के अन्त में शेष तीन घातिया कर्मों का नाशकर केवलज्ञानी अर्हंत अवस्था, परमशुद्ध अवस्था प्रगट हो जाती है अतः इस गाथा को पढ़कर यह जीव पुरुषार्थशील बने तथा अपनी वास्तविक सम्पत्ति की प्राप्ति हेतु निर्ग्रंथ अवस्था धारण कर समस्त पर पदार्थों से ममत्व हटाकर शुद्ध, बुद्ध एक ज्ञायक भाव आत्मा में निमग्न होने का सौभाग्य प्राप्त करें। अब जीव को टंकोत्कीर्ण लक्षण वाला बताते हुए ४९वीं गाथा में कहते हैं—

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं।।४९।।

निश्चय से जीव रस गंध रहित कहा है।
अव्यक्त, मूर्ति इन्द्रिय विरहित कहा है।।
निःशब्द है नहिं ग्रहण चिन्हादि से हो।
संस्थान आदि नहिं निश्चय जीव में हों।।४९।।

अर्थ—जीव रस रहित है, रूप रहित है, गंध रहित है; अव्यक्त है, चेतना गुण से रहित है, शब्द रहित है, किसी भी चिन्ह से ग्रहण में आने वाला नहीं है तथा जिसका आकार कहा नहीं जा सकता, ऐसा जानो।

भावार्थ—आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने इस गाथा में "जीव परमार्थ स्वरूप एक टंकोत्कीर्ण लक्षण वाला है" ऐसा बताया है।

इस गाथा की आत्मख्याति टीका करते हुए श्री अमृतचन्द्र सूरि ने लिखा है—जो यह जीव है वह नियम से १. पुद्गलद्रव्य से भिन्न है, उसमें रस गुण विद्यमान नहीं है इसलिए अरस है। २. पुद्गलद्रव्य के गुणों से भिन्न होने से स्वयं रसगुण वाला नहीं है अतः अरस है। ३. परमार्थ से पुद्गलद्रव्य का स्वामी नहीं है इसलिए द्रव्येन्द्रिय के अवलम्बन से आप रस रूप नहीं होता है अतः अरस है। ४. स्वभाव से क्षायोपशमिक भाव का अभाव होने से यह भावेन्द्रिय के अवलम्बन से रहित होने से भी अरस है। ५. सकल विषयों में साधारण एक संवेदन परिणाम स्वभाव वाला होने से यह केवल एक रस के वेदन—अनुभव परिणाम वाला नहीं है अतः अरस है। ६. सम्पूर्ण ज्ञेय—जानने योग्य पदार्थ और ज्ञायक—जानने वाला आत्मा इन दोनों में तादात्म्य—एकरूपता का निषेध होने से यह जीव रस को जानने रूप से परिणत होते हुए भी स्वयं रस रूप से परिणत नहीं होने से भी अरस है। यहाँ 'छह' प्रकार से जीव के रस का निषेध करके 'अरस' सिद्ध किया है।

इसी प्रकार आचार्य श्री अमृतचन्द्र स्वामी ने जीव को अरस, अरूपी, गंध रहित, अव्यक्त आदि सिद्ध करते हुए प्रत्येक के साथ उपरोक्त छह-छह हेतु देकर जीव उस

रूप क्यों नहीं है, यह भलीभाँति बताया है।

इसी गाथा की टीका करते हुए आचार्य श्री जयसेन स्वामी ने अत्यन्त सरल शब्दों द्वारा गाथा का भाव खोलकर इस प्रकार रखा है—

निश्चयनय से यह जीव रस, रूप, गंध, स्पर्श और शब्द से रहित है। मन में होने वाले काम, क्रोध आदि विकल्प के विषय से रहित होने से यह जीव अव्यक्त है—सूक्ष्म है। पुनः कैसा है ? शुद्ध चेतना गुण युक्त है। पुनः किस रूप है ? निश्चयनय से स्वसंवेदन ज्ञान का विषय होने से यह जीव अलिंगग्गहण है—किसी हेतु से ग्रहण नहीं किया जा सकता है। पुनः यह समचतुरस्र आदि छह संस्थानों से रहित है। इस प्रकार इन उपर्युक्त विशेषण से विशिष्ट जो कोई पदार्थ है वही शुद्ध जीव है, उपादेय—ग्रहण करने योग्य है, हे शिष्य ! ऐसा तुम समझो।

यहाँ तात्पर्य यह है कि शुद्ध निश्चयनय से जो सब पुद्गलद्रव्य सम्बन्धी वर्णादि गुण और शब्दादि पर्यायों से रहित है, सर्व द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय, मनोगत रागादि विकल्पों का विषय नहीं है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य तथा अपने से अतिरिक्त शेष जीव द्रव्य इन सबसे भिन्न अनंत दर्शन, ज्ञान, सुख, वीर्य वाला है वही शुद्धात्मा है। वही अपूर्व है और वही उपादेय है। ऐसा मानकर पर्वत, गुफा, गव्हर में स्थित होकर निर्विकल्प, निर्मोह, निरंजन, निज शुद्धात्मा के ध्यान रूप परमसमाधि से उत्पन्न सुखरूपी अमृतरस की अनुभूति लक्षण ध्यान में स्थित होकर सर्व प्रयत्न से निज शुद्धात्मा का ध्यान करना चाहिए।

विशेषार्थ—आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने समयसार में स्थान-स्थान पर शुद्धात्मा की प्राप्ति के लिए निश्चयनय और व्यवहारनय इन दोनों नयों का अवलम्बन लेते हुए जीव द्रव्य के वास्तविक स्वरूप को अपने शिष्यों के समक्ष प्रस्तुत किया है क्योंकि यह नितान्त सत्य है कि व्यवहार के बिना निश्चय नहीं होगा, उसी प्रकार यह भी पूर्ण सत्य है कि निश्चय के बिना शुद्धात्म दर्शन नहीं होगा। समयसार का साक्षात् अनुभव करने वाले दिगम्बर जैन मुनिराज छठे-सातवें गुणस्थान में असंख्यातों बार झूले के समान झूलते हुए शुद्धोपयोग की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। उन्हें ही समझाते हुए आचार्यश्री कुन्दकुन्ददेव ने उपरोक्त गाथा को लिखकर बताया है कि पुद्गल द्रव्य के जो गुण है तथा उन गुणों से युक्त जो भी पदार्थ रूप पर्यायें ज्ञेय रूप से इस संसार में विद्यमान हैं उस आत्मा का—शुद्ध जीव का लक्षण भेद होने से यह जीव उस रूप नहीं है। उदाहरण के लिए रस, रूप, गंध, स्पर्श ये पुद्गल के गुण हैं एवं चेतना लक्षण जीव का गुण है अतः पुद्गल द्रव्य कभी चेतना लक्षण वाला हो नहीं सकता, न ही जीव द्रव्य कभी रस रूप आदि स्वरूप हो सकता है। इसी प्रकार शब्दादि पुद्गल की पर्यायें हैं पुनः

जीव उस रूप भी कैसे हो सकता है ? जीव द्रव्य तो एक ज्ञायक, टंकोत्कीर्ण भगवान आत्मा है उसका पुद्गल के साथ व्यवहारनय से संसार अवस्था में मिश्रण तो दिख रहा है लेकिन उस मिश्रण अवस्था में भी भेदज्ञानी सम्यग्दृष्टी आत्मा यह समझता है कि मेरा आत्मा पुद्गल के विकारों से अत्यन्त भिन्न है, यह मात्र संयोग सम्बन्ध है और संयोग सम्बन्ध उस प्रकार आत्मा से भिन्न है जिस प्रकार स्त्री से पुरुष, पिता से पुत्र आदि थोड़े-थोड़े समय के लिए संयोगी बन जाते हैं। पुनः ये सब भी अपनी-अपनी सत्ता से अलग रहते हैं और एक दिन अलग हो जाते हैं उसी प्रकार व्यवहारनय से यह जीवात्मा संसार में पुद्गल के साथ एक क्षेत्रावगाही सम्बन्ध स्थापित कर लेता है फिर भी निश्चयनय से दोनों द्रव्य पृथक्-पृथक् सत्ता वाले हैं और १६ ताव के द्वारा शुद्ध किये गये स्वर्ण के समान यह आत्मा भी शुद्धोपयोग रूप शुक्लध्यान के द्वारा शुद्ध की जा सकती है, जभी अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर सकती है अर्थात् परमात्मा स्वरूप बन सकती है।

यह गाथा आचार्यश्री कुन्दकुन्द स्वामी को अत्यन्त प्रिय रही है जभी तो उन्होंने समयसार के साथ-साथ पंचास्तिकाय और प्रवचनसार में भी इस गाथा को लिया है।

अतएव इस गाथा को पढ़कर हमें अपनी आत्मा के वास्तविक स्वरूप को पहचान कर आगम पद्धति से शुभोपयोगी बनकर शुद्धोपयोग की भूमिका को प्राप्त करने का उपाय जो दिगम्बर दीक्षा है उसे स्वीकार कर समस्त पर पदार्थों से विमुख होकर आत्मा का ध्यान करना चाहिए और जब तक इस अवस्था की प्राप्ति न हो सके तब तक दिगम्बर मुनिराज जो इस भूमिका की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हैं उनकी भक्ति करते रहना चाहिए। गुणस्थान के बारे में बताते हुए आचार्य ६८वीं गाथा में कहते हैं—

मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिया जे इमे गुणट्ठाणा।
ते कह हवंति जीवा जे णिच्चमचेदणा उत्ता।।६८।।

गुणथान आदि जो आगम में बखाने।
वे मोहकर्म के उदयादिक से माने।।
ये नित्य ही अचेतन माने गए हैं।
फिर जीव कैसे भला वे ही हुए हैं।।६८।।

अर्थ—जो ये गुणस्थान हैं वे मोहनीय कर्म के उदय से ही कहे गये हैं वे पुनः जीव कैसे हो सकते हैं ? क्योंकि ये नित्य ही अचेतन कहे गये हैं।

उपर्युक्त गाथा के ऊपर आचार्यश्री अमृतचंद्र सूरि एवं श्रीजयसेन स्वामी इन दोनों आचार्यों ने अपनी-अपनी टीकाएँ लिखी हैं किन्तु अमृतचन्द्र स्वामी के अनुसार यह ६८ नं. की गाथा है जबकि श्रीजयसेनाचार्य के अनुसार ७३ नं. की गाथा है। जो भी हो, दोनों आचार्यों ने अनन्य श्रद्धा भक्तिपूर्वक श्री कुन्दकुन्दाचार्य के गाथागत भावों को ही

अपने-अपने शब्दों में व्यक्त किया है। इससे अतिरिक्त उन्होंने कोई शब्द निज मान्यतावाची नहीं रखा है।

सर्वप्रथम आत्मख्याति टीका में खुलासा है कि—'मिथ्यादृष्टयादीनि गुणस्थानानि हि.....।

अर्थात् जो ये मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान हैं, वे पौद्गलिक मोहनीय कर्म प्रकृति के उदयपूर्वक होने से नित्य अचेतन हैं क्योंकि कारण के अनुरूप ही कार्य होते हैं। जैसे कि जौ के बीज से जौ ही उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार पुद्गल कर्मों से उत्पन्न हुए गुणस्थान आदि पुद्गल ही हैं न कि जीव, यह बात स्वयं सिद्ध हो गई अतएव रागदि भाव जीव नहीं है यह निश्चयनय का कथन हुआ।

आगे कलशकाव्य में श्री अमृतचन्द्र सूरि कहते हैं—

अनाद्यनंतमचलं स्वसंवेद्यमिदं स्फुटं।
जीवः स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते।।४१।।
अनादि अनन्त निश्चल, जो स्वानुभव प्रकट चेतन स्वरूप।।
जीव स्वयं दीपकवत् प्रकाशमान अतिशय स्वरूप।।४१।।

यह जीव द्रव्य पुद्गलादि अन्य द्रव्यों की अपेक्षा नहीं रखने से स्वतः सिद्ध है क्योंकि चैतन्य के अतिरिक्त यह अन्य रूप से उपलब्ध ही नहीं होता है। यह सर्व द्रव्यों में श्रेष्ठ होने से चकचकायमान—देदीप्यमान होता रहता है। यह जीव द्रव्य अनादि, अनंत है क्योंकि न तो इसकी कभी उत्पत्ति होती है और न ही इसका अंत संभव है। अपने द्वारा आप अनुभव में आने से स्वसंवेद्य है, चैतन्यस्वभावी होने से व्यक्त है। इन विशेषणों से युक्त अविनाशी आत्मा का ज्ञान कराते हुए आचार्यश्री कहते हैं कि हे भेदज्ञानियों! ऐसे जीव का ही आप अवलंबन लेवो।

पुनः "जीवादजीवमिति.....इत्यादि ४३ वें कलशकाव्य में बताया है कि" चैतन्यलक्षण जीव द्रव्य से अजीव द्रव्य बिलकुल भिन्न है। स्वयं शोभायमान ऐसे जीव का ज्ञानीजन अनुभव करते हैं तो भी अज्ञानीजनों का यह वृद्धिंगत हुआ अमर्यादित मोह कैसा नृत्य कर रहा है ? अहो ! आश्चर्य की बात है अथवा बड़े खेद की बात है।

इस अनादिकालीन संसार रूपी नाट्यशाला में यह पुद्गल ही नृत्य कर रहा है क्योंकि रागादि जो पुद्गल के विकार हैं उनसे विरुद्ध शुद्ध चैतन्य धातुमय मूर्तिस्वरूप यह जीव है। जब आत्मा निर्विकल्प ध्यान में लीन होकर भेदज्ञान रूपी आरे से कर्मों को काट-काटकर अलग कर देता है तो जीव और अजीव दोनों पृथक्-पृथक् हो जाते हैं।

उसी गाथा की तात्पर्यवृत्ति टीका में आचार्यश्री जयसेनस्वामी कहते हैं—

निर्मोहपरमचैतन्यप्रकाशलक्षण परमात्मतत्त्व.....।

अर्थात् निर्मोह चैतन्य प्रकाश लक्षण जो परमात्मतत्त्व है उसके प्रतिपक्षभूत अनादि अविज्ञा कदली—केले के कद—जड़स्वरूप संतान—परम्परा से प्राप्त हुए मोहनीय कर्म के उदय से होने वाले गुणस्थान कहे गये हैं। यद्यपि अशुद्ध निश्चयनय से ये चेतन हैं फिर भी शुद्ध निश्चयनय से नित्य ही अचेतन हैं।

उपर्युक्त दोनों टीकाओं की पूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी ने "ज्ञानज्योति" हिन्दी टीका करते हुए समयसार ग्रंथ में विशेषार्थ लिखा है—

"इस गाथा में आचार्यश्री कुंदकुंददेव ने मोहनीय कर्म के निमित्त से होने वाले गुणस्थान रूप परिणामों को भी अचेतन कह दिया है। विचार करके देखा जाए तो तेरहवें गुणस्थान में अर्हंत केवली हैं अथवा ग्यारहवें गुणस्थान में मोहनीय कर्म सर्वथा उपशांत हो चुका है अतः यहाँ भी मोहनीय कर्म का उदय नहीं है। मतलब ११वें से १४वें गुणस्थान तक मोहनीय कर्म का उदय न होते हुए भी योग के निमित्त से या अन्य कर्मों के उदय से गुणस्थान संज्ञाएं हैं।

ये सभी गुणस्थान रूप परिणाम सर्वथा अचेतन नहीं हैं, कथंचित् शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से ही अचेतन हैं, अशुद्ध निश्चयनय से चेतन ही हैं क्योंकि संसार में अर्हंत भगवान् तक भी सभी जीव इन गुणस्थान रूप ही हैं, मात्र एक सिद्ध परमात्मा ही गुणस्थान से परे हैं।

तात्पर्य यह निकला कि चतुर्थ गुणस्थान से छठे गुणस्थान तक जीव श्रद्धा से ही अपने को गुणस्थान से रहित सिद्ध, शुद्ध भगवान समझते हैं। आगे निर्विकल्पध्यानी मुनि शुद्धोपयोग में स्थिर होकर आत्मा को गुणस्थान भावों से रहित शुद्ध अनुभव करते हैं, पुनः दशवें गुणस्थान में पहुँचकर मोह को सर्वथा नष्ट कर केवली हो जाते हैं, अनंतर अघातिया कर्मों को भी नष्ट कर गुण स्थानातीत सिद्ध हो जाते हैं अतः स्वभावदृष्टि से आत्मा को शुद्ध गुणस्थानातीत समझकर व्यवहारनय के आश्रित चारित्र को धारण कर आत्मा को शुद्ध करने का पुरुषार्थ करना चाहिए। निश्चयाभासी बनकर आत्मा को शुद्ध कहते हुए त्याग और त्यागी से अरुचि नहीं करनी चाहिए।

एक अन्य भावार्थ में भी पूज्य माताजी ने जीव के चैतन्यलक्षण का खुलासा किया है—

'जीव का चैतन्य लक्षण ऐसा है कि जो अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभवि इन तीनों दोषों से रहित है। यदि जीव का मात्र अमूर्तिक लक्षण कर दें तो यह लक्षण धर्म, अधर्म, आकाश और काल इनमें चला जाता है किन्तु चैतन्य लक्षण एक ऐसा लक्षण है जो अन्य द्रव्यों में नहीं पाया जाने वाला असाधारण लक्षण है। इस लक्षण के द्वारा ही जीव के सत्यस्वरूप को समझकर उसकी उपासना करनी चाहिए।'

इस समयसार ग्रंथ में तो मात्र मुनियों को ही आत्मसम्मुख होने के लिए संबोधन

किया गया है। जिन्होंने समस्त बाह्याभ्यंतर परिग्रह को छोड़कर नग्न दिगम्बर वेष धारण किया है वे ही इस चैतन्य आत्मा की उपासना के साक्षात् अधिकारी हो सकते हैं क्योंकि जो गृहस्थ श्रावक अभी अशुभ राग, पंचेन्द्रिय विषयों का ही त्याग न कर सका वह भला आत्मा का दर्शन कैसे कर सकता है ? अतः पहले तो बाह्य परिग्रह छोड़ना ही पड़ेगा तभी समयसार की पात्रता प्राप्त हो सकती है जैसे—चावल का ऊपरी छिलका उतरे बिना अन्दर की लालिमा दूर नहीं हो सकती है उसी प्रकार बाह्य ग्रंथी छोड़े बिना स्वभाव की प्राप्ति नहीं हो सकती है।

इस गाथा के अन्त में "जीवाजीवाधिकार का सारांश" पूज्य श्री ज्ञानमती माताजी ने विस्तार से दिया है जो प्रत्येक समयसारी पाठक के लिए पठनीय है। इसमें प्रारंभ से लेकर ७३ गाथाओं तक के समस्त विषय को संक्षेप में खोला गया है तथा दोनों आचार्यों द्वारा मान्य गाथाओं का लेखाजोखा भी दिया है।

मुख्य रूप से इस गाथा का तात्पर्य यही है कि मोहनीय कर्म से उत्पन्न हुए रागादि परिणाम निश्चयनय से आत्मा के नहीं हैं अतः पुरुषार्थ के बल पर इन रागादि भावों को छोड़ने का प्रयास करना चाहिए।

उपयोग के विकारी परिणामों को बताते हुए ८९वीं गाथा में कहा—

उवओगस्स अणाई परिणामा तिण्ण मोहजुत्तस्स।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदिभावो य णायव्वो।।८९।।
मोही संसारी प्राणी के तीनों अनादि परिणाम कहे।
क्योंकी उसका उपयोग सदा तीनों स्वरूप परिणमन करे।।
मिथ्या, अज्ञान तथा अविरति ये भाव विकारी होते हैं।
ये कहे अशुद्ध जीव में ही नहिं शुद्ध जीव के होते हैं।।८९।।

अर्थ—मोह से सहित होने के कारण मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति ये तीन विकारी परिणाम अनादिकाल से उपयोग (आत्मा) के हैं, ऐसा जानना चाहिए।

समयसार ग्रंथराज में आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने स्थान-स्थान पर भेदविज्ञान को दर्शाते हुए यह सिद्ध किया है कि इस देहरूपी देवालय में विराजमान टंकोत्कीर्ण, शुद्ध-बुद्ध, चैतन्य स्वरूपी एक भगवान आत्मा विराजमान है, वह भगवान आत्मा अनादिकाल से कर्म के निमित्त से संसार में भ्रमण करती हुई भी शुद्ध-बुद्ध, चैतन्य स्वरूपी अपने स्वभाव भाव को नहीं छोड़ती है जिस प्रकार से कीचड़ में पड़कर सोना अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता है। निश्चयनय से आत्मा की शक्ति को बताने वाली ऐसी बात को सुनकर किसी शिष्य ने आचार्यश्री से प्रश्न पूछा कि हे भगवन् ! जब आत्मा इस प्रकार की शुद्ध परिणति वाली है तो मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति ये परिणाम पुनः

किसके हैं। इस प्रश्न के होने पर ही श्रीकुन्दकुन्द स्वामी ने इस गाथा को लिखते हुए शिष्य को समझाया कि मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति ये तीनों उपयोगमयी चैतन्य स्वभावी आत्मा के ही परिणाम हैं और उसका कारण है मोहनीय कर्म। मोहनीयकर्म के कारण ही यह आत्मा इन तीन विकारी परिणाम से युक्त हो रही है।

इसी बात को इस गाथा की टीका करते हुए दिगम्बर जैनाचार्य श्री अमृतचन्द्र सूरि लिखते हैं कि यह आत्मा यद्यपि स्वभाव परिणमन की सामर्थ्य वाला है फिर भी अनादिकाल से मोहनीय कर्म के उदय से युक्त हो रहा है इसीलिए मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति ऐसे तीन भेदरूप परिणाम के विकार वाला देखा जा रहा है। जिस प्रकार से स्फटिक मणि स्वयं में स्वच्छ है तथा स्व स्वरूप की उज्ज्वलता की प्रगटता रूप परिणाम वाला है फिर भी नीले, हरे, पीले ऐसे तीन रंग के आश्रय से उस-उस रंग वाला दिखने लगता है ऐसे ही आत्मा के अनादिकालीन मोह का आश्रय होने से मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति ये तीनों परिणाम विकारी परिणति वाले हैं ऐसा जानना चाहिए।

इस गाथा को स्पष्ट करते हुए पूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी ने विषय को और खुलासा करते हुए समझाया कि इस गाथा के अनुसार उपयोग के अर्थात् आत्मा के तीन प्रकार हैं और ये अनादिकालीन हैं। प्रश्न यह होता है कि जो अनादि होता है उसका अन्त कैसे होगा, जैसे सुमेरु पर्वत अनादि है अतः अनंत है, लेकिन सर्वथा ऐसी बात नहीं है। इस बात को एक उदाहरण देते हुए पूज्य माताजी ने बताया कि—भगवान महावीर के पिता राजा सिद्धार्थ की पिता-पुत्र परंपरा अनादि से चली आ रही थी किन्तु भगवान महावीर ने विवाह नहीं किया जिससे उनकी पिता-पुत्र परम्परा का यहां से अन्त हो गया अतः अनादि होते हुए भी अनंत नहीं कहा जा सकता। दूसरा उदाहरण और देखिये—बीज-वृक्ष की परम्परा अनादि है—बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज अनादिकाल से चलता आ रहा है फिर भी आज यदि एक बीज को जला दिया जावे तो उसकी आगे की परम्परा यहीं समाप्त हो जायेगी। इसी प्रकार मोह से युक्त उपयोग के ये तीन भेद अनादिकालीन हैं—मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति। इन्हें ही मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र कहते हैं। इनको नष्ट करने के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र माने गये हैं, यह रत्नत्रय ही मोक्ष का मार्ग है और इसकी विकारी स्थिति संसार मार्ग है ऐसा समझकर अनादि से चले आ रहे मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति को अनंत न समझकर इन्हें समाप्त करने का उपाय करना है और इसका सीधा-साधा उपाय एक ही है—रत्नत्रय को स्वीकार करना। रत्नत्रय की स्वीकारता क्या है ? रत्नत्रय के दो भेद हैं—एक है व्यवहार रत्नत्रय और दूसरा है निश्चय रत्नत्रय। निश्चय रत्नत्रय साध्य है और व्यवहार रत्नत्रय साधन है। व्यवहार रत्नत्रय के

साधन से ही निश्चय रत्नत्रय रूप साध्य की सिद्धि हो सकती है। छठे-सातवें गुणस्थान में परिणति करने वाले भावलिंगी दिगम्बर मुनिराज के ही व्यवहार रत्नत्रय माना गया है और इस व्यवहार को धारण करने वाले ही मुनिराज निश्चय रत्नत्रय "जो कि ध्यान की एकाग्र परिणति रूप शुक्ल ध्यान के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है" उसे प्राप्त करते हैं। यही ध्यानाग्नि इस अनादिकालीन मोह की वासना को नष्ट करने में समर्थ हो पाती है जिसके द्वारा मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति को भस्म करके घातिया-अघातिया कर्मों को जलाकर इस आत्मा को केवलज्ञान प्राप्त करा देता है।

समयसार की इस गाथा को पढ़कर यही अवधारणा करनी चाहिए कि अनादिकालीन अशुद्ध उपयोग को शुद्ध किया जा सकता है और उसके उपाय को अपनाना अवश्य ही चाहिए। आत्मा के कर्तृत्व भाव को बताते हुए ९१वीं गाथा में कहा है कि—

जं कुणइ भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।
कम्मत्तं परिणमदे तह्मि सयं पुग्गलं दव्वं।।९१।।
जो जीव जिस समय जिन भावों से जिन भावों को करता है।
उन ही भावों का कर्त्ता बन परिपरिणति को निज कहता है।।
इस तरह विकारी होने पर जो पुद्गल परमाणू आते।
वे आत्मा के संग बंध करके स्वयमेव कर्मसंज्ञा पाते।।९१।।

अर्थ—आत्मा जिस भाव को करता है वह उस भाव का कर्ता हो जाता है। ऐसी स्थिति में पुद्गल द्रव्य स्वयं कर्म रूप से परिणमन कर जाता है।

भावार्थ—पिछली गाथाओं में आचार्यश्री कुन्दकुन्द देव ने यह बताया था कि मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति ये तीनों परिणाम अनादिकालीन हैं और मोह से सहित आत्मा के हैं। इसी बात को टीकाकार आचार्यश्री अमृतचन्द्र जी व आचार्य श्री जयसेन जी ने उदाहरण देते हुए स्पष्ट किया था कि जिस प्रकार स्फटिक मणि स्वयं स्वच्छ परिणमन स्वभावी होते हुए भी नीले, हरे, पीले आदि वस्तुओं के आश्रय के निमित्त से उस-उस रंग की दिखती है उसी प्रकार यह आत्मा शुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावी होते हुए भी अनादिकाल से चले आ रहे मोहनीय कर्म के निमित्त से मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति रूप तीन परिणाम वाली हो रही है।

इस गाथा में आचार्यश्री कुन्दकुन्द स्वामी यह सिद्ध कर रहे हैं कि यह आत्मा जिस भाव को करता है उस भाव का कर्तृत्व आत्मा को ही जाता है, चाहे वह मिथ्यात्व भाव हो या सम्यक्त्व भाव हो। अज्ञान भाव हो अथवा ज्ञान भाव हो क्योंकि भावों को करने वाला तो आत्मा ही है, यही भाव निमित्त पाकर पुद्गल द्रव्य कर्म रूप से परिणत हो जाते हैं अर्थात् भावकर्म के द्वारा द्रव्य कर्म का बंध हो जाता है।

इस गाथा की टीका करते हुए आचार्यश्री अमृतचन्द्र सूरी ने लिखा है कि जिस प्रकार एक मंत्र का साधक जब ध्यान रूप भाव के द्वारा मंत्र की सिद्धि करता है तो उस मंत्र का प्रभाव देखने में आता है, उस मंत्र के प्रभाव से कार्य की सिद्धि देखी जाती है उसी प्रकार यह आत्मा अज्ञान से अपने द्वारा किये गये मिथ्यादर्शन आदि भावों से परिणमन करता हुआ स्वयं मिथ्यादर्शन आदि भावों का कर्ता होता है और इस मिथ्यादर्शन आदि भावों का निमित्त पाकर भी पुद्गल कर्म स्वतः ही मोहनीय आदि अष्ट कर्म रूप से परिणत हो जाते हैं। यद्यपि पुद्गल कर्म पृथक् हैं और आत्मा पृथक है फिर भी भाव कर्म के निमित्त से द्रव्य कर्म का बंध हुआ, और भाव कर्म को करने वाला है आत्मा, इसीलिए परम्परा से आत्मा को इन कर्मों का कर्त्तृत्व माना जाता है।

आचार्यश्री जयसेन स्वामी ने भी इसी बात को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि शुद्ध स्वभाव से च्युत हुआ यह आत्मा जिन भावों को—मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति आदि विकारी परिणामों को करता है वह उन्हीं भावों का कर्ता हो जाता है जिससे पुद्गल द्रव्य स्वयं कर्म रूप से बंध जाते हैं और जिस समय वह आत्मा निश्चय रत्नत्रय स्वरूप शुद्धोपयोग परिणाम को करता है उस समय मोहनीय आदि द्रव्य कर्म स्वयं आत्मा से पृथक् होकर निर्जरा को प्राप्त हो जाते हैं।

गाथा का स्वाध्याय कराते समय पूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी ने खुलासा करते हुए इस गाथा में बताया कि गाथा में जो स्वयं शब्द आया है वह पुद्गल के कर्मरूप से परिणमन करने में पुद्गल द्रव्य की उपादनरूपता का सूचक है, साथ ही जीव के विकारी भावों को साधकतम भी बतला रहा है इसीलिए टीकाकार श्री अमृतचंद्र सूरि ने मन्त्र के साधक का दृष्टांत दिया है। जब कोई मन्त्रवादी जिस किसी भी उद्देश्य से मंत्र जाप्य करता है तब उस मन्त्र के सिद्ध हो जाने पर उसका कार्य अनायास ही सिद्ध हो जाता है। जैसे गारुड़िक मन्त्रवादी अपने स्थान पर बैठकर मन्त्र जपता है और दूर से स्थित भी जिसके लिए मंत्र जपा था उसका विष उतर जाता है या कोई जेल में बेड़ियों से बंधा है तो मंत्रवादी के मंत्र के प्रभाव से उसकी बेड़ियां खुल जाती हैं।

इसी प्रकार संसार अवस्था में जीव में विभाव रूप परिणत होने की एक वैभाविक शक्ति होती है जिसके निमित्त से जीव रागी, द्वेषी, मोही होता है और जिस समय जिस प्रकार के परिणाम को वह करता है उस समय उस भाव के अनुसार पौद्गलिक कर्म व वर्गणाएं जीव के साथ चिपट कर बंध जाती हैं, ये वर्गणाएं ही द्रव्यकर्म कहलाती हैं। ऐसे ही जिस समय दिगम्बर महामुनि निर्विकल्प ध्यान में लीन होकर अभेद अवस्था में परिणत हो जाते हैं तो उनके पूर्व में बंधे हुए कर्म स्वतः ही बंधन से छूटकर निर्जीर्ण होने

लगते हैं और यही अवस्था आगे बढ़कर जब शुक्लध्यान का रूप ले लेती है तो क्षपक श्रेणी में आरुढ़ महामुनि के शीघ्र ही चारों घातिया कर्म नष्ट होकर केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है।

उपरोक्त अभिप्राय को भली प्रकार समझकर यह निश्चय करना चाहिए कि हमारी आत्मा जब तक संसार में है तब तक हमें कर्म का प्रतिक्षण बन्ध हो रहा है क्योंकि हम किसी न किसी प्रकार के भाव तो प्रतिक्षण करते ही हैं इसलिए जहाँ तक बन सके वहाँ तक अशुभ भावों से हटकर शुभ भावों में प्रवृत्ति करनी चाहिए क्योंकि शुभ भाव चौथे गुणस्थान से छठे गुणस्थान तक तो अध्यात्म दृष्टि से हैं ही, इसलिए शुद्ध भाव तो जिनकल्पी महामुनि के ही सम्भव है आजकल के पंचमकाल के मुनिराजों को भी संभव नहीं है, क्योंकि शुद्ध भाव, शुद्धोपयोग, परमसमाधि यह सब शुक्लध्यान की परिणति में सम्भव है और वह आज इस पंचमकाल में उत्तम संहनन के अभाव में होगी ही नहीं, इसलिये जब दिगम्बर जैन मुनिराजों को आज शुभभाव की परिणति ही बतलाई गई है तो गृहस्थों को तो शुभ भाव ही हो सकते हैं, शुद्ध भाव का तो सवाल ही नहीं उठता अतः अशुभ से बचने के लिए शुभ का आश्रय लेकर अपनी आत्मा को पवित्र बनाना ही इस गाथा को पढ़ने का सार समझना चाहिए। आगे १६१वीं गाथा में हमें सम्यक्त्व की महिमा के बारे में जानना है कि—

सम्मत्तपडिणिबद्धं, मिच्छत्तं जिणवरेहि परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो, मिच्छादिट्ठित्ति णायव्वो।।१६१।।

—चामर छन्द—

जीव के सम्यक्त्व गुण को रोकता मिथ्यात्व है।
इसके ही उदय से मिथ्यादृष्टि नाम प्राप्त है।।
यह कथन श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा सही।
नष्ट हो मिथ्यात्व को करें लहें वे शिवमही।।१६१।।

अर्थ—मिथ्यात्व प्रकृतिकर्म सम्यक्त्व हो रोकने वाला है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है क्योंकि उसके उदय से जीव मिथ्यादृष्टि है, ऐसा जाना जाता है।

'सम्यग्दर्शन की महिमा अचिन्त्य है' इसी बात को आचार्यश्री कुन्दकुन्द स्वामी ने प्रस्तुत गाथा में दर्शाया है। मोक्षप्राप्ति का सबसे पहला हेतु सम्यग्दर्शन ही है, उसके बिना जीव का समस्त ज्ञान और आचरण मिथ्याज्ञान एवं मिथ्याचारित्र कहलाता है। आचार्यश्री अमृतचंद्रसूरि ने आत्मख्याति टीका में कहा है—

"सम्यक्त्वस्य मोक्षहेतोः स्वभावस्य प्रतिबंधकं किल मिथ्यात्वं.....

अर्थात् सम्यक्त्व मोक्ष का हेतु है यह जीव का स्वभाव है। इस सम्यक्त्व स्वभाव

को रोकने वाला मिथ्यात्व है, यह नियम है और वह स्वयं कर्म ही है क्योंकि उसके उदय से ही जीव के ज्ञानस्वभाव में मिथ्यादृष्टिपना आ जाता है।

जैसे दूध को कड़वी तूमड़ी का संसर्ग मिलने पर दूध कड़वा हो जाता है तथा अच्छे साफ बरतन में रखने पर वह दूध अपने मिष्ट स्वभाव में ही रहता है उसी प्रकार मिथ्यात्व कर्म के संसर्ग से जीवात्मा भी मिथ्यादृष्टि संज्ञा को प्राप्त हो जाता है और सम्यग्दर्शन जो कि जीव का स्वाभाविक गुण है उसे मिथ्यात्व रोक देता है। समस्त कर्मों का राजा मोहनीय कर्म कहलाता है। मोहनीय के एक भेद दर्शनमोहनीय में ही मिथ्यात्व कर्म शामिल रहता है इसीलिए मिथ्यात्व कर्म समस्त संसार का मूल होता है।

तत्त्वार्थसूत्र की आठवीं अध्याय का प्रथम सूत्र है—

''मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः।''

अर्थात् बन्ध के कारणों में सबसे पहला कारण मिथ्यात्व को ही आचार्यों ने बतलाया है। जो इस मिथ्यात्व का नाश कर देते हैं उनके लिए मोक्ष का रास्ता स्वयमेव खुल जाता है। जैसा कि इन्द्रभूति गौतम के जीवन में हुआ था। वे विशिष्ट ज्ञानी होते हुए भी मिथ्यादृष्टि ही थे। भगवान महावीर के समवसरण में पहुँचने से पूर्व मानस्तम्भ का दर्शन करते ही उनका मान गलित हो गया और जिस मिथ्यात्व ने उनके सम्यक्त्व को रोक रखा था वह पलायित हो गया। फलस्वरूप समवशरण में पहुँचकर जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण करते ही वे चार ज्ञान के धारी तथा प्रथम गणधर बन गये।

इसी बात को आगे की गाथा में प्रकारान्तर से श्री कुन्दकुन्द देव कहते हैं—

वाणस्स पडिणिबद्धं अण्णाणं जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णायव्वो।।१६२।।

—चामर छन्द—

आत्मा के ज्ञानगुण को रोकता अज्ञान है।
इस उदय से जीव द्रव्य हो रहा अज्ञानि है।।
यह कथन श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा सही।
नष्ट जो अज्ञान को करें लहें वे शिव मही।।१६२।।

अर्थ—ज्ञान को रोकने वाला अज्ञान है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। उसके उदय से यह जीव अज्ञानी जाना जाता है।

जैसे निकलते हुए सूर्य के समक्ष जब बादलों का समूह एकत्र हो जाता है तब सूर्य अपने प्रकाश को फैलाने में असमर्थ हो जाता है। उसी प्रकार ज्ञान का सूर्य उदित होने से पूर्व ही अज्ञान ज्ञानावरण कर्म रूपी बादलों द्वारा ढक दिया जाने से वह प्रगट नहीं हो पाता। आत्मा की इसी अवस्था का नाम अज्ञान है। अज्ञान को नष्ट करने वाला मानव

पूर्णज्ञानी परमात्मा बन जाता है।

समयसार में दशवें गुणस्थान तक के जीवों को भी छद्मस्थ होने की अपेक्षा अज्ञानी माना है। जैसा कि ११० वें कलश काव्य में श्री अमृतचन्द्र सूरि कह रहे हैं—

यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा, कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि .....

इसका अर्थ यह है कि जब तक कर्म का उदय है और ज्ञान की सम्यक् प्रकार से कर्म से विरति—मुक्ति नहीं हुई है तभी तक कर्म-आवश्यकादि क्रियाएँ और ज्ञान इन दोनों का समुच्चय—एकत्रीकरण भी कहा गया है तब तक इसमें कुछ भी हानि नहीं है। यहाँ पर यह विशेष बात है कि आत्मा में कर्म के उदय की जबरदस्ती से आत्मा के वश के बिना कर्म का उदय होता है वह तो कर्म— क्रियाएं बन्ध के लिए ही हैं और मोक्ष के लिए परमज्ञान ही है। वह ज्ञान स्वयं आप कर्म से रहित है यह बात सिद्ध हो जाती है।

ज्ञान तो चैतन्य आत्मा का स्वभाव है एवं अज्ञान वैभाविक परिणति है। केवलज्ञानावरण कर्म के उदय से यह जीव केवली होने से पूर्व तक अज्ञानी ही रहता है। उसी अज्ञानता की प्रधानता उपर्युक्त गाथा में दी गई है।

चारित्तपडिणिबद्धं कषायं जिणवरेहि परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णायव्वो।।१६३।।

—चामर छंद—

जीव के चारित्र गुण को रोकता कषाय है।
इसका उदय ही चरित्रहीनता विभाव है।।
यह कथन जिनेन्द्रदेव ने कहा सभी।
नष्ट जो कषाय को, करें लहें वे शिवमही।।१६३।।

अर्थ—चारित्र को रोकने वाली कषाएं हैं ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। उनके उदय से यह जीव चारित्र रहित अविरती जाना जाता है।

चारित्र मोक्ष का साक्षात् हेतु है, उस चारित्र स्वभाव की प्रतिबंधक कषाएं हैं जिनके निमित्त से सकलसंयम नहीं हो पाता। कषायों का ज्यों-ज्यों नाश होता जाता है त्यों-त्यों चारित्र की वृद्धि होती जाती है और संज्वलन लोभ का नाश होते ही यथाख्यात चारित्र प्रगट हो जाता है।

आचार्य श्री जयसेन स्वामी ने टीका में कहा है—

''इति सम्यक्त्वादिजीवगुणा मुक्तिकारणं.....

इस प्रकार सम्यक्त्व आदि जीव के गुण मुक्ति के कारण हैं अथवा उन गुणों से परिणत यह जीव ही मुक्ति का कारण होता है इसलिए शुद्ध जीव से भिन्न शुभ-अशुभ मन-वचन-काय के व्यापार रूप जो क्रियायें हैं अथवा उन क्रियाओं से उपार्जित जो

शुभ-अशुभ कर्म हैं वे मोक्ष के कारण नहीं हैं ऐसा मानकर शुभ-अशुभ कर्म हेय हैं—त्याग करने योग्य हैं।'' परन्तु किसके लिए हेय हैं? शुक्लध्यानी मुनिराज के लिए ये दोनों कर्म हेय हैं, यह अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

पूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी ने इन गाथाओं के भावार्थ में लिखा है—

''इन सब उद्धरणों से यह निश्चित समझ लेना चाहिए कि पुण्य और पाप को एक सदृश समझने वाले महामुनि ही होते हैं। यदि श्रावक या अव्रती ऐसी चर्चा करते हैं तो वे शुद्धोपयोग में तो पहुँचते नहीं हैं और शुभ क्रियाओं को छोड़कर या हेय कहकर अनादर से करके भी अशुभोपयोग में चले जाते हैं इसीलिए मुनियों के उत्कृष्ट परमार्थभूत ध्यान को प्राप्त न करके गृहस्थाश्रम में शुभ क्रियाओं को हेय नहीं कहना चाहिए।

आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी के कथन से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि यतिगण ही परमार्थ का आश्रय ले सकते हैं न कि अव्रती या श्रावकगण। जैसे श्वेत वस्त्र मैला हो जाता है वैसे ही सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्र ये गुण भी मिथ्यात्व, अज्ञान तथा कषायरूपी मैल से ढके हुये हैं। इससे मिथ्यात्व अकिंचित्कर है ऐसा मानने वालों का भी निराकरण हो जाता है तथा जीव संसार में कर्म मल से आच्छादित है यह बात भी सिद्ध हो जाने से ''आत्मा शुद्ध है'' ऐसा एकान्त दुराग्रह निरस्त हो जाता है। उदाहरण रूप में १६८वीं गाथा में देखें—

पक्के फलम्हि पडिए जह ण फलं बज्झए पुणो विंटे।
जीवस्स कम्मभावे पडिए ण पुणोदयमुबेई।।१६८।।
जैसे फल के पक जाने पर जब वह तरु से गिर जाता है।
तब पुनः वृक्ष की डाली से सम्बन्ध नहीं जुड़ पाता है।।
वैसे ही कर्मभाव पककर जब आत्मा से झड़ जाते हैं।
वे पुनः उदय को प्राप्त न हों निर्जरा तत्त्व कहलाते हैं।।१६८।।

अर्थ—जैसे पके फल के गिर जाने के बाद पुनः वह डंठल में—अपनी टहनी में नहीं लगता, वैसे ही जीव के पुद्गल कर्म अपने कर्मभाव से अलग हो जाते हैं तब वे उदय में नहीं आते हैं।

समयसार के आस्रव अधिकार में आचार्यश्री कुन्दकुन्द स्वामी ने उपर्युक्त गाथा लिखी है। इस गाथा की आत्मख्याति टीका में श्री अमृतचन्द्रसूरि कहते हैं—

''यथा खलु पक्वं फलं .....'' अर्थात् जैसे पका हुआ फल डाल से एक बार अलग होने के बाद पुनः वृक्ष में जाकर नहीं लग सकता है उसी प्रकार से कर्म के उदय से होने वाला जो भाव है वह एक बार जीव पदार्थ से पृथक् हो जावे तो पुनः वह जीव

भाव को प्राप्त नहीं होता है।

इस गाथा का भावार्थ यह है कि जब ज्ञानी मुनि निर्विकल्प ध्यान में स्थित हो जाते हैं तब वे द्रव्य कर्मवर्गणा रूप आते हुये पुद्गल कर्मों को रोक देते हैं तभी उनके मिथ्यात्व, राग, द्वेष आदि भाव न होने से भावास्रव भी रुक जाते हैं अथवा मोह, राग, द्वेष आदि भावों के न होने से पौद्गलिक द्रव्य कर्मों का आना रुक जाता है अतः परस्पर में एक-दूसरे का अभाव एक साथ ही हो जाता है।

आचार्य श्री जयसेन स्वामी ने इस गाथा की तात्पर्यवृत्ति टीका में कहा है— 'सम्यग्दृष्टिर्जीवस्य निर्विकारस्वसंवित्तिबलेन ....." अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव के निर्विकार स्वसंवेदन के बल से संवरपूर्वक निर्जरा होती है, यहाँ ऐसा अभिप्राय समझना।

समयसार ग्रंथ में मुख्य रूप से दिगम्बर मुनिराज को सम्बोधन करते हुए आश्रव भावों से दूर रहने की प्रेरणा प्रदान की है। तत्त्वार्थसूत्र की छठी अध्याय में आस्रव तत्व का विशेष वर्णन आचार्य श्री उमास्वामी ने किया है जो कि जनसामान्य के लिए समझने का विषय है। मन, वचन, काय के द्वारा जो कर्म आत्मा में आते हैं उसे ही आस्रव कहा जाता है, यह आस्रव प्रत्येक प्राणी के प्रतिक्षण होता रहता है, जिसे छुड़ाने के लिये गुरुदेव बार-बार प्रेरणा देते हैं।

समयसार में आचार्य श्री अमृतचन्द्रसूरि और आचार्यश्री जयसेन स्वामी की संस्कृत टीकाओं पर पूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी ने "ज्ञानज्योति" नामक हिन्दी टीका लिखते हुए सारा विषय सरल शब्दों में स्पष्ट किया है उपर्युक्त गाथा के विशेषार्थ में उन्होंने स्पष्टीकरण किया है—

जैसे फल पककर स्वयं डाल से गिर जावे पुनः वह फल उस वृक्ष की डाल में नहीं लग पाता है वैसे ही जीव के पूर्व में बांधे हुए साता-असाता आदि कर्म जब उदय काल में उदय में आकर सुख-दुःख फल दे चुकते हैं तब वे जीव से पृथक् होकर निर्जीर्ण होकर झड़ जाते हैं पुनः यदि जीव उन कर्मों का उदय आने पर हर्ष-विषाद रूप से परिणत नहीं होता है, राग-द्वेष आदि विकार भाव नहीं करता है तब आगे के लिये कर्म नहीं बंधते हैं। जो फल देकर झड़े थे वे तो पुनः जीव में चिपकते नहीं हैं। रागादि भाव के न होने से आगे के लिए बंधते नहीं हैं तभी संवर और निर्जरा हो जाती है। यह अवस्था निर्विकल्प शुक्ल ध्यान में महामुनि के ही संभव है, ऐसा समझना।

हाँ, कर्म उदय में आकर फल देकर झड़ते हैं पुनः वे ही नहीं चिपकते हैं यह तो सभी जीवों में घटता है किन्तु जीव के हर्ष- विषाद आदि भाव होने से आगे के लिये कर्म बंधते रहते हैं। यही कारण है कि यहाँ उस जीव की विवक्षा नहीं है प्रत्युत गजकुमार, पांडव आदि जैसे महामुनियों की विवक्षा है, ऐसा समझना चाहिए।

यहाँ आचार्यदेव ने इस आस्रव अधिकार में मिथ्यात्व आदि चार प्रत्यय चेतन और अचेतन रूप से दो प्रकार के कहे हैं, पुनः यह बताया है कि ये भावरूप मिथ्यात्व आदि जो कि जीव के परिणाम हैं वे ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म के लिए कारण हैं और द्रव्य कर्मों का उदय होने से रागादि भाव होते हैं अतः यह द्रव्यकर्म भावकर्म के लिए कारण हैं। श्री जयसेनाचार्य ने इस विषय में प्रश्नोत्तर से अच्छा समाधान किया है कि किसी भी महामुनि के असाता आदि कर्मों का उदय आ रहा है, उन पर उपसर्ग आया हुआ है या परीषहें आ गई हैं फिर भी यदि वे ध्यान में लीन हैं तो द्रव्यकर्म उदय में आकर फल देकर झड़ जाएंगे किन्तु आगे के लिये कर्म बन्ध नहीं होगा। तभी तो कर्मों का नाश होकर मोक्ष मिलता है अन्यथा किसी जीव को मोक्ष ही नहीं हो सकेगा क्योंकि कर्मों का उदय तो सदा काल ही संसार में संसारी जीवों के रहता है। यह अवस्था श्रेणी में स्थित महामुनियों के ही होती है, इससे पूर्व सभी के तरतम भावों से कर्मबन्ध होता ही रहता है।

कर्मकांड ग्रंथ के अनुसार गुणस्थानों में जो प्रकृतियाँ बन्ध से व्युच्छिन्न होती हैं, उतनी ही प्रकृतियों का वह गुणस्थानवर्ती अबन्धक है और अपने-अपने योग्य प्रकृतियों का बन्धक होता है। दसवें गुणस्थान तक बन्ध होता है अतः वहाँ तक सराग सम्यग्दृष्टि माने गये हैं, आगे ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थान में वीतराग–यथाख्यात चारित्र से सहित वीतरागी महामुनि वीतरागसम्यग्दृष्टि होते हैं वे ही सर्वथा कर्मों के बन्ध से रहित अबन्धक हो जाते हैं अतः चतुर्थ गुणस्थान में अपने को अबन्धक नहीं मानना चाहिये। आगे की कुछ गाथाएँ आत्मा के एकत्व भाव को दर्शाती हैं—

अप्पाणमप्पणा रुंधिऊण दो पुण्णपावजोएसु।
दंसणणाणम्हि ठिदो इच्छाविरओ य अण्णम्हि।।१८७।।
जो सव्वसंगमुक्को झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा।
णवि कम्मं णोकम्मं चेदा चेयेइ एयत्तं।।१८८।।
अप्पाणं झायंतो दंसणणाणमओ अणण्णमओ।
लहइ अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मपविमुक्कं।।१८९।।

जो प्राणी आत्मा को आत्मा के द्वारा पाप क्रियाओं से।
छुड़वाता पुण्य क्रिया को भी रत हो चैतन्य क्रियाओं में।।
दर्शन ज्ञानावस्थित होकर पर में नहिं वांछा करता है।
आस्रव को तजकर वही मुनी संवर सुतत्त्व आचरता है।।१८७।।

जो सर्व परिग्रह को तजकर निज आत्मा को ही ध्याते हैं।
वे मुनि आत्मा के द्वारा ही आत्मानंदामृत पाते हैं।।

जो कर्म और नोकर्मों के भी नहिं कर्ता कहलाते हैं।
वे चेतन सुख के उपभोक्ता एकत्व अवस्था पाते हैं।।१८८।।

वे दर्शनज्ञानमयी अनन्य आत्मीय ध्यान को करते हैं।
इसलिए अन्य द्रव्यादिक में परिणमन नहीं वे करते हैं।।
शीघ्रातिशीघ्र वे कर्मरहित आत्मा की प्राप्ति करते हैं।
ऐसे परिणामों से संयुत मुनिवर ही संवर करते हैं।।१८९।।

अर्थ—जो जीव पुण्य-पाप दोनों योगों से आत्मा को रोककर दर्शन-ज्ञान में स्थित हैं और अन्य वस्तु में इच्छा से रहित हैं तथा जो सम्पूर्ण परिग्रहों से रहित होकर आत्मा को आत्मा के द्वारा ध्याते हैं, कर्म और नोकर्म को नहीं। ऐसे चेतयिता आत्मा एकत्व का अनुभव करते हैं। वे दर्शन, ज्ञानमय होते हुए अन्य से मन को हटाकर, आत्मा को ध्याते हुए शीघ्र ही सर्व कर्म से रहित आत्मा को ही प्राप्त कर लेते हैं।

विशेषार्थ—परमपूज्य दिगम्बर जैनाचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने समयसार ग्रंथराज में जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष इस क्रम से ९ पदार्थों का विवेचन किया है।

उपरोक्त गाथाएं संवर अधिकार की हैं। यहाँ पर आचार्य भगवन्त श्री कुन्दकुन्ददेव ने संवर का वर्णन करते हुए स्पष्ट किया है कि जो जीव पुण्य-पाप दोनों योगों से आत्मा को रोककर दर्शन-ज्ञान में स्थित हो जाते हैं, ऐसे सर्व परिग्रह से रहित आत्मा को आत्मा के द्वारा ध्याते हुए एकत्व का अनुभव होता है। यहाँ पर सर्वप्रथम इस भूमिका का पात्र देखना है कि ऐसी कौन आत्मा है जो इस स्थिति को प्राप्त कर सकता है तो आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव की सूत्ररूप गाथाओं से भी यह बात तो स्पष्ट ही है कि सव्वसंगमुक्को अर्थात् सम्पूर्ण परिग्रह से रहित दिगम्बर मुनिराज होना चाहिए।

पिच्छी कमण्डलु से सहित एवं बाह्य-अभ्यन्तर समस्त परिग्रहों से रहित वीतरागी, भावलिंगी मुनिराज पाप का संवर तो प्रतिक्षण करते ही हैं लेकिन पुण्य और पाप दोनों का संवर करने की भूमिका में जब आ पाते हैं तभी आत्मा मात्र दर्शन ज्ञान में स्थित होती है। यह भूमिका निर्विकल्प ध्यान स्वरूप सप्तम गुणस्थान से प्रारम्भ होती है क्योंकि छठे गुणस्थान में सराग अवस्था है और पुण्य का अतिशय रूप से बंध चल रहा है। अध्यात्म दृष्टि से सप्तम गुणस्थान में वीतराग चारित्र से अविनाभावी ऐसा वीतराग सम्यक्त्व, शुद्धोपयोग, परमसमाधि, एकत्व का अनुभव ऐसी अवस्था आती है और यही अवस्था शुक्लध्यान में ले जाकर शीघ्र ही साक्षात् परमात्म अवस्था—केवलज्ञान को प्राप्त करा देती है।

अब प्रश्न होता है कि चतुर्थ और पंचम गुणस्थानवर्ती गृहस्थ व श्रावक इस भूमिका का अधिकारी है या नहीं ? इसका समाधान यह है कि गृहस्थ व श्रावक के लिए 'सव्वसंगमुक्को' सर्व परिग्रह से रहित यह विशेषण प्रयुक्त ही नहीं हो सकता; क्योंकि आगम के अनुसार मात्र एक लंगोटी का परिग्रहधारी ऐलक भी पंचमगुणस्थान तक ही रहता है और उसे भी 'सव्वसंगमुक्को' नहीं कह सकते हैं। उसे भी उत्कृष्ट श्रावक संज्ञा है। यति, मुनि, ऋषि, अनगार आदि संज्ञाएं तो पूर्णरूपेण बाह्य परिग्रह को त्याग करके दिगम्बर दीक्षा धारण करने पर ही आती हैं इसीलिए यहां जो एकत्व का अनुभव व पुण्य-पाप से संवर की भूमिका है वह परम वीतरागी, निर्ग्रन्थ महामुनि को ही प्राप्त हो सकती है। श्रावक तो पाप का संवर करके अतिशय रूप से पुण्य का ही बन्ध करता रहे तो समझना चाहिए कि उसका संसार निकट आता जा रहा है क्योंकि पुण्य बन्ध परम्परा से मोक्ष का कारण बनता है। यह अवश्य है कि साक्षात् मोक्ष का कारण तो पुण्य-पाप दोनों का ही निरोध है लेकिन गृहस्थ अवस्था में यह तीन काल में भी संभव नहीं है; इसलिए गृहस्थ व श्रावक को चतुर्थ-पंचम गुणस्थान के योग्य भूमिका में पहुँचकर प्रतिक्षण यह भावना करनी चाहिए कि हे भगवन्! हम भी ऐसी अवस्था को प्राप्त करें जहाँ पाप और पुण्य दोनों का संवर होकर पूर्णरूपेण शुद्ध आत्मा को प्राप्त करने में सक्षम हो सकें। भूमिकानुसार कार्य करने से ही सुफल ही प्राप्ति होती है। आगे की गाथा में बंध के बारे में बताते हुए आचार्य कहते हैं—

एवमलिए अदत्ते अबंभचेरे परिग्गहे चेव।
कीरइ अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झए पावं।।२६३।।
तहवि य सच्चे दत्ते बंभे अपरिग्गहत्तणे चेव।
कीरइ अज्झवसाणं ज तेण दु बज्झए पुण्ण।।२६४।।

ऐसे ही झूठ बोलने में चोरी आदिक में भी जानो।
अब्रह्मचर्य व परिग्रह में कर्ता के भाव प्रमुख मानो।।
यह अध्यवसान भाव ही तो पापों का बंध कराता है।
इनसे छुटते ही शुद्धातम ज्ञानी का पद पा जाता है।।२६३।।

यूँ ही जो सत्य अचौर्य अपरिग्रह ब्रह्मचर्य पालन करता।
इन सभी व्रतों के पालन का शुभ भाव हृदय में है धरता।।
व्रत पालन के परिणामों से ही पुण्य बंध हो जाता है।
निश्चयनय तक पहुँचाने में यह कारण भी हो जाता है।।२६४।।

अर्थ—पहले हिंसा का अध्यवसाय कहा है। उसी प्रकार असत्य,चोरी, कुशील और

परिग्रह में जो अध्यवसाय किया जाता है उससे तो पाप का बंध होता है तथा सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह में जो अध्यवसान किया जाता है उससे पुण्य का बंध होता है।

विशेषार्थ—आचार्य श्री कुन्दकुन्द द्वारा प्रणीत समयसार ग्रंथ में उपरोक्त गाथायें बंध अधिक की हैं। पांच पाप एवं पांच व्रत में से इन गाथाओं में ४ को लिया गया है। प्रथम हिंसा का प्रकरण इससे पूर्व गाथाओं से चला आ रहा है आगे प्रकरण के अनुसार ही यहां पर शेष चार पाप एवं व्रतों का कथन आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव ने किया है। इन गाथाओं से यह तो एकदम स्पष्ट है कि हिंसा–झूठ–चोरी–कुशील और परिग्रह में किया गया परिणाम पापबंध का ही हेतु है, इससे विपरीत अहिंसा–सत्य–अचौर्य–ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह में किया गया परिणाम पुण्य बंध का ही हेतु है, यह बात टीकाकार श्री अमृतचन्द्र सूरि एवं आचार्यश्री जयसेन जी ने भी अपनी–अपनी टीकाओं में लिखी है।

उपरोक्त कथन में परिग्रह परिणाम की चर्चा न करके अपरिग्रह की चर्चा की गई है, इससे पांचों व्रत महाव्रत रूप से विवक्षित हैं ऐसा समझना चाहिए जो कि मुनि दीक्षा ग्रहण करने पर लिये जाते हैं। आगे यह भी ध्यान रखने योग्य है कि इन पांचों व्रतों को धारण करके ही मुनि बनते हैं और मुनि बनकर ही निश्चयव्रत रूप ध्यान अवस्था में पहुँचकर सर्व नयों से, सर्व विकल्पों से छूटकर कर्म बंध से रहित हो सकते हैं।

यहाँ पर हमें यह समझना है कि मिथ्यादृष्टि जीव के हिंसा–झूठ–चोरी–कुशील और परिग्रह इन पांच पापों का त्याग न होने से निरन्तर पाप का ही बंध होता है तथा सम्यग्दृष्टि जीव जब विधिपूर्वक इनका एकदेश त्याग कर देता है व परिग्रह का परिमाण कर लेता है और अणुव्रती श्रावक संज्ञा को प्राप्त कर लेता है तब असंख्यात गुणश्रेणी कर्मों की निर्जरा होती है फिर भी पाँचों का पूर्ण रूप से त्याग न होने से श्रावक अथवा गृहस्थ के महाव्रत नहीं होता है। यह अवस्था श्रावकाचार में बताई गई दूसरी प्रतिमा से ११वीं प्रतिमा तक अर्थात् क्षुल्लक, ऐलक तक तरतमता से समझना चाहिए। इससे ऊपर इन पाँचों पापों का पूर्णरूप से त्याग होने पर ही महाव्रत संज्ञा आती है और ये महाव्रत दिगम्बर मुनि को ही प्राप्त होते हैं। बिना महाव्रत धारण किये शुक्ल ध्यान, शुद्धोपयोग, परमसमाधि एवं निर्विकल्प अवस्था न आज तक किसी को हुई है और न आगे होगी। यह जैन सिद्धांत का अकाट्य नियम है। पुनः प्रश्न होता है कि ये पांच व्रत धारण करने पर तो पुण्य बंध होता है और जहाँ तक पुण्य बंध होता है वहाँ तक बंध का सर्वथा अभाव न होने से मोक्ष कैसे होगा ?

यह बात सिद्धांत के अनुसार इस प्रकार समझना चाहिए कि सर्वप्रथम तो नियमपूर्वक एवं विधिपूर्वक पांचों पापों का त्याग करके महाव्रत ग्रहण करना पड़ता है, यही विधि तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलभद्र जैसे तद्भव मोक्षगामी पुरुषों को भी करना पड़ता है और

सभी ने किया है। महाव्रत ग्रहण करने के बाद दिगम्बर अवस्था प्राप्त होती है इस अवस्था में जब तक सराग अवस्था रहती है तब तक तो पुण्य बंध होगा ही लेकिन पाप का अबंध होता जायेगा, यह अवस्था छठवें-सातवें गुणस्थान में अतिशय रूप से प्रवर्तमान रहती है, इससे ऊपर जब तक दशवें गुणस्थान तक राग का सद्भाव पाया जाता है तब तक पुण्य का बंध तो चल ही रहा है, इससे ऊपर जब वीतराग अवस्था यथाख्यात चारित्र अवस्था प्राप्त होती है तब पुण्य-पाप दोनों प्रकार के बंध रुक जाते हैं और दोनों प्रकार के कर्मों की निर्जरा करते हुए ये जीव ११वें-१२ वें गुणस्थान में आरोहण करता है और क्षपक श्रेणी में आरोहण हुआ जीव अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान को प्राप्त कर लेता है। यह श्रेणी आज उत्तम संहनन के अभाव में पंचमकाल में संभव नहीं है इसलिए शुक्ल ध्यान की ८वें या ११ वें-१२ वें गुणस्थान की अवस्था इस पंचमकाल में किसी भी महामुनि को होने वाली नहीं है, मात्र छठवें-सातवें गुणस्थान योग्य सराग अवस्था-सविकल्प अवस्था-शुभोपयोग अवस्था-धर्मध्यान अवस्था इस काल में संभव है और यदि यह हो जाये तो निश्चित रूप से परम्परा से शीघ्र ही मोक्ष की प्राप्ति हो जायेगी क्योंकि यदि इस अवस्था को प्राप्त कर पुण्य बंध नहीं किया गया तो इसके नीचे पाप बंध ही तो होगा। पुण्य और पाप के बीच की तीसरी अवस्था तो कोई है नहीं इसलिए इस पंचम काल में गृहस्थ अर्थात् सम्यग्दृष्टि चतुर्थ एवं पंचम गुणस्थानवर्ती के तो पुण्य एवं पाप दोनों का बंध चलता रहता है, इससे नीचे मिथ्यादृष्टि को पाप बंध ही होता रहता है और इन दोनों से ऊपर महाव्रती मुनि को छठवें-सातवें गुणस्थान में पुण्य का बंध होता है और पाप कर्मों की असंख्यात गुणश्रेणी निर्जरा प्रतिक्षण होती रहती है—यही अवस्था परम्परा से शुभोपयोग से शुद्धोपयोग में परिणत हो जाती है, यह चतुर्थ काल में ही संभव होगी अतः आज हमें इसकी भावना करते हुए पुण्य बंध करना चाहिए उसे अपने लिए, अपनी भूमिका में हेय नहीं समझना चाहिए अन्यथा पाप बंध ही होगा और हम न इधर के रहेंगे न उधर के।

चौथे एवं पंचम गुणस्थान में सर्वथा पापों का त्याग नहीं होने से तथा परिग्रह का भी पूर्ण त्याग नहीं होने से निरन्तर पुण्य व पाप दोनों का बंध होता ही होता है। इसे करणानुयोग से, धवला ग्रंथों से एवं कर्मकांड आदि ग्रंथों से समझना चाहिए। चौथे-पाँचवें गुणस्थानवर्ती गृहस्थ अथवा श्रावक यदि पुण्य को हेय मानकर पुण्य रूप अनुष्ठान करेंगे तो पुण्य कर्म अल्प हो जायेगा इसलिए भूमिकानुसार क्रिया ही कार्यकारी है ऐसा सिद्धांत एवं आचार ग्रंथों से भली प्रकार समझकर आचरण व कथन करना चाहिए, ऐसा अभिप्राय अभिप्रेत है। पुण्य पापाधिकार में सम्यक्त्व-मिथ्यात्व के बारे में बताया है—

वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो।
मिच्छत्तमलोच्छण्णं तह सम्मत्तं खु णायव्वं।।१५७।।
वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो।
अण्णाणमलोच्छणणं तह णाणं होदि णायव्वं।।१५८।।
वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो।
कसायमलोच्छण्णं तह चारित्तं पि णादव्वं।।१५९।।

(त्रिकलम्)

जैसे श्वेत वस्त्र का मैल के सम्पर्क से।
श्वेतपना नष्ट होता निज स्वभाव छोड़ के।।
वैसे ही सम्यक्त्व गुण मिथ्यात्व के प्रभाव से।
नष्ट होता आतमा का गुण मिथ्यात्व भाव से।।१५७।।

ज्यों विशेष मैल से वस्त्र मलिन हो रहा।
श्वेतपन को छोड़कर निज स्वभाव खो रहा।।
त्यों ही जीवतत्त्व ज्ञानभाव गुण को छोड़कर।
अज्ञानरूपी मैल से दबता स्वभाव छोड़कर।।१५८।।

जैसे वस्त्र का सफेद रंग मैल संग से।
नष्ट होता मूल भाव ज्यों स्वभाव भंग से।।
वैसे ही कषाय मल चारित्र युग को नाशता।
क्योंकि वह चारित्र भी अचारित्र भासता।।१५९।।

अर्थ—जिस प्रकार वस्त्र की सफेदी मैल के मिलने पर नष्ट हो जाती है उसी प्रकार मिथ्यात्व मल का मेल न होने पर आत्मा का सम्यक्त्व गुण नष्ट हो जाता है अर्थात् आच्छादित हो जाता है, ऐसा समझना चाहिए।

जैसे वस्त्र की शुक्लता मैल के संबंध विशेष से नष्ट हो जाती है वैसे ही अज्ञानरूपी मल के साथ सम्बन्ध होने पर आत्मा का वास्तविक ज्ञान नष्ट हो जाता है अर्थात् आच्छादित हो जाता है, ऐसा निश्चय करना चाहिए।

जिस तरह वस्त्र का श्वेतपना मैल के साथ मिल जाने पर नाश को प्राप्त हो जाता है उसी तरह कषाय रूपी मल के साथ मिल जाने पर आत्मा के चारित्र गुण का नाश हो जाता है, ऐसा जानना चाहिए।

विशेषार्थ—साक्षात अर्हंत् पथानुगामी, दिगम्बर जैन महान सन्त, विशाल संघ के नायक आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव ने समय प्राभृत अपरनाम समयसार नामक ग्रंथ में

दिगम्बर जैन साधुवर्ग को सम्बोधित करते हुए 'पुण्यपापाधिकार' के मध्य उपरोक्त ३ गाथाएं एक साथ लिखी हैं। उपरोक्त तीनों गाथाओं में सरल रूप से यह समझने की बात है कि सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों आत्मा के गुण हैं तथा मिथ्यात्व, अज्ञान और कषाय ये तीनों क्रमशः उपरोक्त गुणों को नष्ट करने वाले मल हैं।

जिस समय तक यह संसारी आत्मा संसार की नाना पर्यायों को, यथा—निगोद पर्याय, नरक पर्याय, तिर्यंच पर्याय, मनुष्य पर्याय व देव पर्याय को धारण करता हुआ संसार में ही भ्रमण करता रहता है; तब तक उसे उपरोक्त तीनों मल से या तीनों में से किसी एक या दो मल से संसक्त समझना चाहिए। कदाचित् पुण्ययोग से इसी संसारी आत्मा को ऐसी मनुष्य पर्याय मिल जावे जिसमें भगवान वीतराग सर्वत्र देव द्वारा कथित जिनागम पर श्रद्धान करने योग्य योग्यता की प्राप्ति हो जावे तो समझना चाहिए कि अनंत संसार से निकलने के लिए किनारा आ गया है। ऐसी अमूल्य मनुष्य पर्याय को पाकर जब यह जीव अपने स्वभाव को समझने की चेष्टा करने लगता है तब यह सोचता है कि हमारी आत्मा और संसार के समस्त अन्य पदार्थ हमसे पृथक हैं हमारा स्वभाव तो ज्ञान भाव रूप है और हमारा यह ज्ञान भाव अनादिकाल से नष्ट हो रहा है, भ्रष्ट हो रहा है, आच्छादित हो रहा है। ऐसी विवेक की किरण जागृत होते ही यह जीव दैगम्बरी दीक्षा धारण करके अपने आत्म स्वभाव को प्रगट करने में लग जाता है। वह स्वभाव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से अलग कुछ भी तो नहीं है इसीलिए वह इन तीनों गुणों की प्रगटता जिसमें होती है ऐसे अर्हंत लिंग अर्थात् रत्नत्रयस्वरूप, परम वीतराग मुद्रा, गात्र मात्र परिग्रहधारी, मयूर पिच्छिका एवं काष्ठ का कमण्डलु धारण करके आत्मस्वरूप में निमग्न हो जाता है। ऐसे आत्मस्वरूप में निमग्न निश्चय और व्यवहार दोनों नयों द्वारा उपदिष्ट ऐसे भेद-अभेद रूप तीनों गुणों को एकाकार करने वाले दिगम्बर जैन मुनिराजों को आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव समझा रहे हैं कि यह संसारी आत्मा भी उसी प्रकार शुद्ध, चिदानंद स्वरूप एक ज्ञायकभाव रूप है, जिस प्रकार सिद्ध परमात्मा की आत्मा है। प्रश्न होता है कि फिर इसका संसार में भटकाव क्यों ? इसी का समाधान तो आचार्य भगवन्त, परम उपकारी श्री कुन्दकुन्ददेव ने इन तीन गाथाओं में किया है और जैसे किसी बालक को समझाने के लिए कोई प्रचलित उदाहरण देना पड़ता है तब वह बालक ठीक प्रकार से विषय को समझ लेता है उसी प्रकार कितनी करुणाबुद्धि से आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी अपने समान ही दिगम्बर वेषधारी यात्रियों को सरल सुबोध उदाहरण देकर समझा रहे हैं कि हे मुनिवरों ! जैसे एक सफेद वस्त्र पर हरा, लाल आदि किसी अन्य रंग का मेल कर देने पर उस वस्त्र की सफेदी नष्ट हो जाती है और वह हरा या लाल आदि रंग का दिखने लगता है उसी प्रकार

तुम्हारी आत्मा के स्वरूप को ढकने वाला—नष्ट करने वाला मिथ्यात्व, अज्ञान और कषाय है, इसके अलावा और कुछ नहीं है, इसे प्रयत्नपूर्वक हटा दो तो शुद्ध आत्मा का दर्शन हो जायेगा और चित्स्वरूप परमवीतरागी ऐसी ज्ञायक भावरूप आत्मा का स्वभाव प्रगट हो जायेगा।

इन गाथाओं की टीका करते हुये दिगम्बर जैन आचार्य श्री अमृतचन्द्र सूरि ने लिखा है कि सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्र ये मोक्ष हेतु आत्मा के स्वभाव हैं परन्तु परभाव रूप मल ऐसे मिथ्यात्व, अज्ञान और कषाय ये तीनों इन स्वभाव को तिरोभूत किये हुए हैं और तीनों मिथ्यात्व, अज्ञान और कषाय कर्म हैं इसलिए कर्म को हटाना चाहिए। कर्म हटने से ही निष्कर्म अर्थात् निर्विकल्प अवस्था प्राप्त होने पर नयातीत अवलम्बन प्राप्त होने पर टंकोत्कीर्ण ज्ञायक मात्र एक सहज स्वभाव में लीन ऐसी वीतराग दशा का अनुभव होने लगता है।

इन गाथाओं के पढ़ने से हमें अपना क्या प्रयोजन सिद्ध करना चाहिये यह बात विचार करने योग्य है। वास्तव में दिगम्बर जैन परम्परा में सर्वत्र सभी ग्रंथों में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता को ही मोक्षमार्ग कहा है। इसी बात को श्री उमास्वामी आचार्य ने अपने महान ग्रंथ, परमागम स्वरूप मोक्षशास्त्र अपरनाम तत्त्वार्थसूत्र के पहले सूत्र में ही निबद्ध किया है—

''सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः'' इस सूत्र की व्याख्या तत्वार्थराजवार्तिककार श्री अकलंकदेव ने करते हुए बहुत ही स्पष्ट किया है कि तीनों की एकता से ही मोक्षमार्ग बनता है किसी एक से या किन्हीं दो से मोक्षमार्ग नहीं बन सकता। उन्होंने राजवार्तिक में लिखा है कि कोई कहे कि हम ज्ञान मात्र से मोक्षमार्ग मानते है तो तीन काल में भी यह सम्भव नहीं है, कोई कहे कि हम सम्यग्दर्शन और ज्ञान से मोक्षमार्ग सिद्ध करते हैं तो यह भी तीन काल में सम्भव नहीं है। कोई कहे कि हम मात्र चारित्र से मोक्षमार्ग मानते हैं तो यह भी सम्भव नहीं है क्योंकि जब तक सम्यग्दर्शन नहीं होगा तब तक ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं बनेगा और चारित्र नवग्रैवेयक तक ले जाकर के मोक्ष को प्राप्त नहीं करा सकता, इसलिए मात्र चारित्र से भी स्वभाव की प्राप्ति नहीं, मात्र ज्ञान से ही स्वभाव की प्राप्ति नहीं और मात्र दर्शन से भी स्वभाव की प्राप्ति नहीं। स्वभाव की प्राप्ति के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनों का एक साथ होना अनिवार्य है इसलिए यहां यह समझने योग्य विषय है कि गृहस्थ श्रावक चतुर्थ गुणस्थान में सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर सकता है और श्रद्धान हो जाने पर सम्यग्ज्ञानी भी बन सकता है लेकिन समयसार और नियमसार बनने के लिए सर्व परिग्रह को छोड़कर दिगम्बर दीक्षा धारण किये बिना सम्यक्चारित्र को नहीं प्राप्त कर

सकता है। बिना सम्यक्चारित्र को प्राप्त किये सवसंवेदन ज्ञान, निर्विकल्प समाधि, शुद्धोपयोग आदि का होना उसी प्रकार असम्भव है जिस प्रकार आकाश में पुष्प असम्भव है अथवा जिस प्रकार फूल के बिना फल असम्भव है, बन्ध्या स्त्री के पुत्रोत्पत्ति असंभव है उसी प्रकार रत्नत्रय की एकता दिगम्बर वेष रूपी पात्र में ही रहती है।

यहाँ यह और दृष्टव्य है कि मिथ्यात्व और अज्ञान तो चौथे-पांचवें गुणस्थान में भी हट सकता है लेकिन कषायें दसवें गुणस्थान तक इस जीव के साथ रहती हैं इसीलिए जैसे-जैसे कषायें हटती हैं वैसे-वैसे इस जीव का राग-द्वेष, मोह रूप परिणाम हटता जाता है और सातवें गुणस्थान से शुद्धोपयोग की भूमिका प्रारम्भ हो जाती है, तभी तो पूर्ण वीतरागी संज्ञा ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थानवर्ती मुनिराजों को प्राप्त होती है क्योंकि छठे-सातवें गुणस्थान में तो बार-बार उतरना चढ़ना है। छठे से सातवें और सातवें से छठे ऐसे भावलिंगी संतों को जीवन में असंख्यात बार होता ही रहता है। छठे में तो बुद्धिपूर्वक ही सविकल्प अवस्था-शुभोपयोग अवस्था रहती है और सातवें गुणस्थान में अबुद्धिपूर्वक सविकल्प व निर्विकल्प अवस्था रहती है।

अन्त में इन तीनों गाथाओं का सार यही समझना चाहिए कि अनादिकाल से मिथ्यात्व, अज्ञान और कषाय ये तीन कर्म रूपी मैल जीव के साथ लगे हुए हैं इसीलिए आत्मा का शुद्ध स्वरूप तिरोभूत है, इन तीनों के हटते ही आत्मा का शुद्ध स्वरूप प्रगट हो जाएगा, पूर्ण प्रगटता तो दिगम्बर वेष धारण करने के बाद ही होगी, एकदेश रूप में श्रावक व श्राविकाएं भी चारित्र धारण कर सकते हैं तथा वह अवस्था कब प्राप्त हो इसकी भावना कर सकते हैं। मिथ्यात्व, अज्ञान और कषाएं ये आत्मा की महान शत्रु हैं, इनको दूर करने का सतत प्रयत्न करते रहना चाहिए।

एक बात विशेष ज्ञातव्य है कि कोई जीव खूब क्षयोपशम ज्ञानी होकर, अच्छा-अच्छा प्रवचन करके भी यदि मुनि निंदा करता है या मुनियों को नहीं मानता है, नमस्कार, आहार आदि क्रियायें नहीं करता है; तो वह कभी सम्यक्दृष्टि हो नहीं सकता क्योंकि मुनि निंदा और सम्यक्त्व का परस्पर में विरोध उसी प्रकार है जैसे शीत और उष्ण एक साथ रह नहीं सकते। उसी प्रकार मुनि निन्दा और सम्यक्त्व एक साथ कदापि रह नहीं सकते इसलिये जब तक मुनि न बन सकें तब तक मुनियों की भक्ति, वैयावृत्ति ही सम्यक्त्व है, ऐसा मानना चाहिए। ज्ञानी जीव को कर्मबंध कब और कैसे होता है, इन गाथाओं के माध्यम से हमें जानना है—

जम्हा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणो वि परिणमदि।
अण्णत्तं णाणगुणो तेण दु सो बंधगो भणिदो।।१७१।।

दंसणणाणचरित्तं जं परिणमदे जहण्णभावेण।
णाणी तेण दु बज्झदि पुग्गलकम्मेण विविहेण।।१७२।।
जीवात्मा का गुण ज्ञान जघन्य अवस्था जब तक पाता है।
नहिं यथाख्यात चारित्र मिला अन्यान्य रूप बन जाता है।।
गुणथान दशम तक वही जीव कर्मों का बंध किया करता।
फिर यथाख्यात चारित पाकर कर्मों से मुक्त हुआ करता।।१७१।।

संज्ञानी के दर्शन सुज्ञान चारित्र जघन्य जहाँ तक है।
रत्नत्रय की सम्पूर्ण अवस्था प्राप्त न होती तब तक है।।
इस कारण ज्ञानी आत्मा के पौद्गलिक कर्म बंधते रहते।
बिन यथाख्यात चारित्र हुए मुनि आत्मसौख्य वंचित रहते।।१७२।।

अर्थ—आत्मा का ज्ञानगुण जब तक जघन्य अवस्था में रहता है अर्थात् यथाख्यात चारित्र को प्राप्त नहीं होता है तब तक अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् अन्यपने को प्राप्त होता रहता है इसलिए उस समय वह नवीन बंध भी करता है।

दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनों जब तक जघन्य अवस्था में रहते हैं तब तक ज्ञानी जीव भी नाना प्रकार के पौद्गलिक कर्मों से बंधता ही रहता है।

विशेषार्थ—मूलसंघ के नायक, भेदाभेदरत्नत्रयधारी, चारों अनुयोगों के महान वेत्ता, मुनि एवं श्रावक धर्म के उपदेष्टा श्रीमद् आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव ने समयसार नामक प्राभृत में उपरोक्त गाथाएँ लिखते हुए यह स्पष्ट किया है कि ज्ञानी जीव को कर्म बंध कब और कैसे होता है? यह प्रकरण समयसार के आस्रव अधिकार का है।

समयसार में सम्यक्दृष्टि शब्द और ज्ञानी शब्द इन दो शब्दों की बहुलता है और इन्हीं दो शब्दों की व्याख्या समझ लेने से समयसार ग्रंथ में कभी भी अर्थ का अनर्थ नहीं हो सकता है।

उदाहरण के लिए उपरोक्त दो गाथाओं की सर्वप्रथम टीका करते हुए आचार्य श्री अमृतचंद्र सूरी ने स्पष्ट लिखा है "ज्ञानगुणस्य हि यावत् जघन्यो भावः, तावत् तस्यान्तर्मुहूर्तविपरिणामित्वात् पुनरन्यतयाऽस्ति परिणामः। स तु यथाख्यातचारित्रावस्थाया अधस्तादवश्यं–भाविरागसद्भावात् बन्धहेतुरेव स्यात्" अर्थात् "ज्ञान गुण का जब तक जघन्य में भाव होता है तब तक उसका अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् विपरिणामी होने से अर्थात् अन्य रूप से परिणमन होता है और यथाख्यात चारित्र से नीचे राग भाव का सद्भाव अवश्य पाया जाता है इसलिए वहाँ तक बंध होता ही होता है।"

इस गाथा में अमृतचंद्रसूरि ने अबंधक अवस्था एवं बंधक अवस्था का कितना

स्पष्ट दिग्दर्शन करा दिया है। यथाख्यात चारित्र ११ वें-१२ वें गुणस्थान में होता है— वहाँ से नीचे अर्थात् १० वें गुणस्थान तक राग भाव का सद्भाव अवश्यंभावी है अर्थात् चारित्रमोहनीय १० वें गुणस्थान तक जाता है, चारित्र मोहनीय ही रागभाव है, इसलिए जब तक पूर्णरूपेण चारित्र मोहनीय का नाश नहीं हो जाता है तब तक कर्मबंध तो होता ही है। इससे यह अभिप्राय स्पष्ट रूप से लेना चाहिए कि ज्ञानी जीव का ज्ञानभाव छठे-सातवें गुणस्थान में प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त में परिवर्तित होता रहता है क्योंकि सिद्धान्त का यह नियम है कि भावलिंगी मुनिराज का साधना काल में छठा-सातवां गुणस्थान ही होता है और इन दोनों गुणस्थानों का काल अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं है अतः छठे-सातवें गुणस्थान में आना-जाना बराबर असंख्यातों बार झूले के समान चला ही करता है। एक वर्ष की घोर तपश्चर्या करने वाले मुनि अवस्था में बाहुबली मुनिराज के भी छठा-सातवां गुणस्थान ही था। १ वर्ष के बाद विकल्प का अभाव होने पर क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ हुए अर्थात् आठवें गुणस्थान में, निर्विकल्प अवस्था में आरूढ़ होते ही आठवें से ९, १० एवं १२ में चढ़कर क्षयोपशम अवस्था का नाश करके केवलज्ञान प्राप्त कर लिया था, १३ वें गुणस्थान को प्राप्त कर लिया था। इससे भी स्पष्ट है कि ६-७ गुणस्थान तक सविकल्प अवस्था ही रहती है निर्विकल्प अवस्था आठवें गुणस्थान से, शुक्ल ध्यान से ही प्रारम्भ होती है और उसकी पूर्णता १२ वें गुणस्थान में होती है अतः दिगम्बर जैन मुनिराज के छठे-सातवें गुणस्थान में ज्ञानगुण जघन्य अवस्था में माना गया है वहाँ पर उस-उस गुणस्थान के योग्य बंध का सद्भाव निरन्तर पाया जाता है, यहाँ तक कि सिद्धान्तानुसार १० वें गुणस्थान तक राग पाया जाता है इसलिए दसवें गुणस्थान तक भी बंध होता रहता है। १० वें गुणस्थान में सूक्ष्म लोभ जो एकमात्र बचा था उसकी भी बंध व्युच्छित्ति हो जाती है तब यथाख्यात चारित्र अर्थात् पूर्ण विशुद्ध चारित्र प्रगट होता है तभी बंध का अभाव होता है इसलिए आजकल जो यह कहा जाता है कि ज्ञानी जीव के कर्म बंध नहीं होता या ज्ञान से कर्म बंध नहीं होता, यह कथन गलत है। परम वीतरागी निर्ग्रंथ मुनिराज के लिए ज्ञानी शब्द प्रयुक्त हुआ है न कि चतुर्थ-पंचम गुणस्थान के लिए। समयसार में स्थान-स्थान पर मुनि शब्द का सम्बोधन या मुनिवाची यति, श्रमण आदि शब्दों का संबोधन भी किया गया है। इससे भी स्पष्ट है कि चतुर्थ गुणस्थान सम्यग्दृष्टि के लिए यह मानना कि कर्मबंध नहीं होता है यह सिद्धान्त विरुद्ध तो है ही, एक प्रकार से आत्मवंचना एवं परवंचना ही होगी।

उपरोक्त गाथा में दिगम्बर सन्त जब तक १० वें गुणस्थान तक हैं, विशेषकर ६-७ वें गुणस्थान में हैं तब तक जघन्य भाव में हैं इसीलिए बंध अवश्यंभावी पाया जाता है तो जब ६-७ वें गुणस्थान में बंध पाया जा रहा है तब चौथे में अबंध अवस्था कैसे

हो सकती है। हाँ, यह निश्चित है कि प्रत्येक गुणस्थान में उस-उस गुणस्थान के योग्य बंध होता है। चौथे गुणस्थान से पूर्व ४१ प्रकृतियों की बंध व्युच्छिति हो जाती है तो चौथे में ४१ का बंध नहीं होगा। इसी प्रकार आगे के गुणस्थानों में करणानुयोग के अनुसार जितनी-जितनी प्रकृतियों का अभाव हो जाता है उतने-उतने का बंध रुक जाता है लेकिन समयसार का ज्ञानी शब्द परमवीतरागी यथाख्यात चारित्र वाले साक्षात् केवलज्ञान के सम्मुख हुए १२ वें गुणस्थान के लिए ही प्रयुक्त है, ऐसा ही सर्वत्र समझना है। यहाँ यह प्रश्न अवश्य उठता है कि फिर क्या ६-७ गुणस्थान वाले मुनि अज्ञानी कहे जायेंगे या चौथे-पांचवें वाले श्रावक अज्ञानी कहे जायेंगे। तो यह भी समझ लेना आवश्यक है कि समयसार में कुन्दकुन्द स्वामी ने अन्यत्र गाथाओं में निर्विकल्प अवस्था, अभेद अवस्था, शुद्धोपयोग अवस्था, परमसमाधि अवस्था के नीचे-नीचे अवस्था, व्यवहार अवस्था को अज्ञानी ही माना है लेकिन इस अज्ञानी का अभिप्राय मिथ्यादृष्टि होना नहीं है, इस अज्ञानी का अभिप्राय अल्पज्ञानी अवस्था से है जब तक केवलज्ञान नहीं होता है तब तक संसार का समस्त ज्ञान भी अल्पज्ञान या प्रकारान्तर से अज्ञान ही कहा जाता है क्योंकि पूर्णता नही है केवल यह अपेक्षा है, जैनशासन में अनेकांत का सहारा लिये बिना तत्व का ग्रहण संभव ही नहीं है इसलिए सर्वत्र अपेक्षाकृत ही कथन समझना चाहिए। कहने का अभिप्राय यही है कि समयसार में सम्यग्दृष्टि 'वीतराग चारित्राविनाभावि यत् सम्यक्त्वं' अर्थात् वीतराग चारित्र से अविनाभूत जो सम्यक्त्व है तथा यथाख्यात चारित्र से अविनाभूत जो चारित्र है वह वीतराग नाम पाता है अतः सम्यग्दृष्टि और ज्ञानी शब्द परमवीतरागी साक्षात् मोक्षगामी १२ वें गुणस्थान वाले ही निर्ग्रंथ हैं, परम्परा से यह व्यवस्था छठे-सातवें गुणस्थान से प्रारम्भ होती है। चौथे का कथन यहाँ है ही नहीं क्योंकि उसके तो सराग चारित्र भी नहीं है वीतराग तो सराग के बाद ही होगा। गाथा नं० १७२ में भी यही बात कुन्दकुन्द स्वामी ने व उनके समस्त टीकाकारों ने लिखी है कि जब तक दर्शन, ज्ञान, चारित्र जघन्य भाव में रहता है तब तक ज्ञानी जीव पुद्गल कर्मों से बंधता है। स्पष्ट है कि दर्शन, ज्ञान, चारित्र मुनि के ही पाया जाता है। एकदेश चारित्र श्रावक के पांचवें गुणस्थान में होता है। वह भी जब, जब वह किसी भी दिगम्बर जैन मुनि से श्रद्धापूर्वक-विधिपूर्वक चारित्र को प्रतिमा रूप अंगीकार करता है तब। यदि कोई श्रावक अपने मन से कोई व्रत लेवे या मान लो केशलोंच करे, या खड़े होकर खाना खाने लग जाये, फिर भी उसे मुनि नहीं कह सकते, न हि उसका गुणस्थान पांचवाँ छठा, सातवां हो जायेगा। व्रततिथिनिर्णय ग्रंथ में आचार्य श्री सिंहनन्दि ने व्रतों को गुरु से ग्रहण करने का स्पष्ट निर्देश दिया है—

व्रतादानव्रतत्यागः कार्यो गुरुसमक्षतः।
नो चेत्तन्निष्फलं ज्ञेयं कुतः शिक्षादिकं भवेत्।।

केवल तीर्थंकर के लिए यह नियम नहीं है क्योंकि तीर्थंकर किसी को उस पर्याय में गुरु नहीं बनाते हैं वे तो सभी के स्वयं ही गुरु हैं इसलिए जैन सिद्धान्तानुसार व्रतों को एकदेश ग्रहण करने वाला श्रावक पंचम गुणस्थानवर्ती होता है और ये व्रत १ प्रतिमा से लेकर ११ प्रतिमा तक हैं तथा महाव्रतों को ग्रहण करने वाला मुनि होता है तथा जब तक व्रतों को ग्रहण नहीं करता है तब तक वह अव्रती ही कहा जाता है और अव्रत अवस्था में तो बंध अधिक ही होता है क्योंकि यहाँ प्रमाद का प्रचुरता से सद्भाव पाया जाता है।

इतना अवश्य है कि जिनके सम्यक्त्व प्रगट हो जाता है ऐसे सम्यक्दृष्टि गृहस्थ को सम्यग्ज्ञानी की अपेक्षा ज्ञानी संज्ञा कहने में कोई बाधा नहीं है क्योंकि उसके मिथ्याज्ञान का अभाव हो गया है।

सारांश यही है कि ज्ञानी व सम्यग्दृष्टि संज्ञा समयसार में जहाँ-जहाँ प्राप्त होती है सर्वत्र यथाख्यात चारित्र वाले ११-१२ वें गुणस्थान में ही पूर्ण रूप से घटित होती है क्योंकि उसके नीचे-नीचे राग भाव का सद्भाव होने से बंध अवश्यंभावी है। ऐसा ही अभिप्राय टीकाकार आचार्य श्री अमृतचंद्रसूरि से लेकर सभी उपरोक्त वर्णित टीकाकारों का है। यही यहाँ भी स्पष्ट किया गया है।

भजन

-प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका चन्दनामती

तर्ज–मैं.....

मैं समयसार को निज आतम में ध्याऊँगा,
बन अन्तरात्म शुद्धात्म भावना भाऊँगा।
ये क्या है ? परमागम है, आध्यात्मिकता का साधन है।
यह कुन्दकुन्द का कुन्दन है, जिससे होता मन पावन है।।
ये क्या है.....।। टेक.।।

प्रभु कुन्दकुन्द ने समयसार को समझाया,
आत्मा का सहज स्वरूप ग्रन्थ में दरशाया।
ये क्या है ? प्रभु महिमा है, आतम स्वभाव की गरिमा है।
ये जीवों का कल्याण करे, संसार जलधि से पार करे।।
ये क्या है.....।।1।।

श्रावक गृहस्थ में भी वैरागी बन करके,
शुद्धात्म अवस्था किंचित् भी नहिं पा सकते।
ये क्या है ? जिनवाणी है, जन-जन की यही कल्याणी है।
मुनिधर्म हमें सिखलाती है, आत्मा का सार बताती है।।
ये क्या है.....।।2।।

अशुभोपयोग को तज हम शुभ में लग जावें,
यह भाव 'चंदनामती' शुद्धता पा जावें।
ये क्या है ? जिनभक्ती है, बस समयसार की शक्ती है।
जो जन इसका श्रद्धान करें, वे निज स्वरूप का पान करें।।
ये क्या है.....।।3।।